भारतीय राजनैतिक चिन्तन में नीलकंठ भट्ट के राजनैतिक विचारों का अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी से पी० एच० डी०
राजनीति विज्ञान उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध
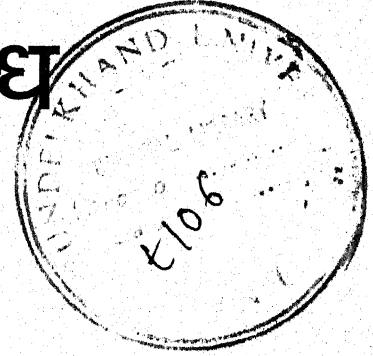
वर्ष - २०००

शोध निदेशक
डॉ० रमाशंकर उपाध्याय
एम० ए० (राजनीति विज्ञान) पी०एच०डी०
रीडर राजनीति विज्ञान विभाग
पं० जवाहर लाल नेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बाँदा (उ०प्र०)

अनुसंधित्सु :
श्रीमती शोभा सक्सेना
एम० ए० (राजनीति विज्ञान)
बी० एड०

डॉ रमाशंकर उपाध्याय
रीडर,राजनीत विज्ञान विभाग
पं0 जवाहरलाल नेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बाँदा (उ0प्र0)

निवास–
बी0–236,आंवास विकास कालोनी,
चिल्ला रोड़, बाँदा–210001(उ0प्र0)
☎ (05192) 24977

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती शोभा सक्सेना पी0एच0डी0(राजनीत विज्ञान) उपाधि हेतु बुन्देलखण्ड झांसी, के तत्वावधान में "भारतीय राजनीतिक चिन्तन में नीलकण्ठ भट्ट के राजनीतिक विचारों का अध्ययन " विषय पर मेरे निर्देशन में आपके पत्रांक बु0 वि0/शोध /9 +1340 –42 दिनांक 29–12–94 को पंजीकृत हुई थी । इन्होंने मेरे निर्देशन में आर्डीनेन्स 7 द्वारा वांछित अवधि तक कार्य किया है तथा इस अवधि तक विभाग में उपस्थित रही है। मैं इनके शोध – प्रबन्ध विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करने एवं इसे परिक्षण हेतु प्रेषित करने की स्वीकृत/संस्तुति करता हूं ।

दिनाँक–

शोध निदेशक

(डॉ रमाशंकर उपाध्याय)

घोषणा -पत्र

मैं श्रीमती शोभा सक्सेना यह घोषित करती हूं कि पी0एच0डी0 (राजनीति विज्ञान) उपाधि बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी के विचारार्थ प्रस्तुत " भारतीय राजनीतिक चिन्तन में नीलकण्ठ भट्ट के राजनीतिक विचारों का अध्ययन" शीर्षक पर यह शोध प्रबन्ध मेरी मौलिक कृति है । शोध प्रबन्ध में दिये गये तथ्य व तत्सम्बन्धी सुझावों का उपयोग किया गया है, जिसका यथा स्थान उल्लेख किया गया है । मैं यह भी घोषणा करती हूं कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध , अन्य व्यक्ति द्वारा इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य किसी विश्वविद्यालय में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का अन्श नहीं है ।

दिनांक

अनुसंधित्सु

(श्रीमती शोभा सक्सेना)
एम0 ए0 (राजनीति विज्ञान)
बी0 एड0

विषय सूची

– प्राक्कथन –

"भारतीय राजनीतिक चिन्तन में नीलकण्ठ भट्ट के राजनीतिक विचारों का अध्ययन" का प्रस्तुत शोध प्रबन्ध विगत कई वर्षों की साधना का प्रतिफल हैं। प्राचीन भारतीय राजनीति शास्त्र के अध्ययन के संदर्भ में डॉ0 अनन्त सदाशिव अल्टेकर का यह मत अनुकरणीय है कि हमें केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए ही इस विषय का अध्ययन नहीं करना चाहिए, वरन उसकी ऐतिहासिक प्रासंगिकता पर भी समुचित ध्यान देना चाहिए ।" इस दृष्टि से नीलकण्ठ भट्ट के राजनीतिक विचारों का अध्ययन भारतीय राजनीति चिंतन में एक अछूता विषय है और प्रस्तुत शोध प्रबंध इस अभाव की पूर्ति का लघु प्रयास मात्र हैं। वस्तुतः भारतीय राजतंत्र संबंधी विचाराधारा का उद्गम स्त्रोत वेद है। अपने उद्गम स्थान से निकलकर यह धारा सहस्त्रों वर्षों तक प्रवाहित रही। कालान्तर में यह अवरूद्ध होकर भारतीय जनता की दासता रूपी मरूभूमि में विलीन हो गई। वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ से भारतीय पुनः जागरण के साथ ही प्राचीन भारतीय राजनीति पर प्रामाणिक शोधकार्य की परम्परा शुरू हुई है और वर्तमान काल में विद्या विकास की दृष्टि से इस क्षेत्र में और अधिक गहन चिन्तन, मनन की महती आवश्यकता है।

प्रस्तुत प्रबंध में जहां तक संभव बन सकता है, मैंने उपलब्ध सामग्री को एकत्र कर एवं संजोकर नीलकण्ठ भट्ट के राजनीतिक विचारों को सुस्पष्ट, व्याख्यात्मक, तुलनात्मक, विवेचनात्मक और विश्लेषणात्मक बनाने का प्रयास ~~किया गया~~ हैं प्रमाण स्वरूप श्लोकों का भी समावेश किया गया है ताकि नीलकण्ठ भट्ट द्वारा व्यक्त विचारों को अधिक यथार्थ व शुद्ध रूप से प्रस्तुत किया जा सके। प्रायः सभी अध्यायों में नीलकण्ठ भट्ट के मत की तुलना महाभारत, मानव धर्मशास्त्र कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार, नीतिवाक्यामृत, याज्ञवल्क्य स्मृति, वृहस्पति स्मृति आदि महत्पवूर्ण ग्रंथों से की है। नीलकण्ठ भट्ट के राजनीतिक विचारों के प्रस्तुत अध्ययन को ऐतिहासिक संदर्भों के साथ ही आधुनिक राजनीतिक चिंतन के परिपेक्ष में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है तथा यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि उनके विचार विभिन्न आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं के उद्गम स्त्रोत हैं। वस्तुतः प्रत्येक समाज के अपने आधारभूत मूल्य होते हैं, जिन्हें वह पवित्र धरोहर के रूप में अपने उत्तराधिकारी समाज को सौंपता हैं यह मूल्य उस समाज की आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित

करते हैं। भारत के संदर्भ में यह परम्परा राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि है जिनके प्रकाश में प्राचीन भारतीय राजदर्शन के शोधकार्य की अत्यधिक उपयोगिता है।

इस शोध प्रबंध की पूर्णता में अपने ख्यातिलब्ध विद्वान निर्देशक डॉ. आर.एस. उपाध्याय राजनीतिशास्त्र विभाग, पंडित जवाहर लाल नेहरू कॉलेज, बांदा के प्रति आभार व्यक्त करना मेरी शब्द क्षमता से परे है। जिन्होंने अमूल्य निर्देशन, गवेषणात्मक दृष्टि और पग पग पर अपने संतुलित विचारों से इस प्रबंध को स्थान–स्थान पर परिष्कृत किया हैं उनके परामर्श व सहयोग के बिना तथा निरन्तर स्नेहपूर्ण प्रेरणा के अभाव में प्रस्तुत शोध प्रबंध का पूरा हो पाना असंभव ही था। मैं आचार्य श्री राजाभइया त्रिपाठी के प्रति आभारी हूं जिन्होंने अपने संस्कृत ज्ञान से मेरी अमूल्य सहायता की।

मुझे शोधकार्य में गुरूकुल विश्वविद्यालय हरिद्वार, काशी, हिन्दी विश्वविद्यालय वाराणसी, ओरिएंटल इंस्टीट्यूट ऑफ फिलासफी वृन्दावन, बुन्देलखण्ड महाविद्यालय झाँसी, डी0 बी0 कॉलेज उरई, उदय प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा, नागरी प्रचारिणी सभा झाँसी, जवाहर लाल नेहरू पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज बांदा, अतर्रा, पी.जी. कॉलेज अतर्रा से जो सामग्री व सहायता प्राप्त हुई है इसके लिए मैं इन पुस्तकालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की भी अनुगृहीत हूं।

अन्त में मैं अपने बड़े भाई डॉ. अशोक कुमार सक्सैना चिकित्साधिकारी झांसी और अपने पति श्री संजीव कुमार सक्सेना की भी कृतज्ञ हूं क्योंकि पारिवारिक कार्यों का भार का वहन करते हुए भी समय निकालकर इस कार्य में री सहायता करके दोनों ने अपना उत्तरदायित्व निभाया। मैं अपने इस शोध का टंकणकर्ता मेसर्स "अंकुर ग्राफिक्स", 92, चौधरयाना, गांधी रोड, झाँसी ✆ 445286 को भी धन्यवाद देना चाहती हूं। जिन्होंने टंकण कार्य में पर्याप्त उत्साह का परिचय दिया।

दिनाँक : विजयादशमी 2000 **श्रीमती शोभा सक्सेना**

प्रथम अध्याय

नीति मयूख का रचनाकाल एवं नीलकंठ भट्ट का स्थान :

प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं में नीलकंठ भट्ट का स्थान महत्वपूर्ण है। उनके द्वारा प्रणीत नीति मयूख भारतीय राजशास्त्र के साहित्य में मूल्यवान ग्रंथ है। आचार्य श्री नीलकंठ भट्ट ने अपने द्वादस मयूखों से राजधर्म के अन्तरिक्ष को अपनी विशेष बुद्धि, प्रतिभा एवं सूझबूझ से आलोकित तथा प्रदीप्त किया है।

नीति मयूख का रचनाकाल :

मयूखाकार नीलकंठ भट्ट ने न तो स्वयं और न ही अन्य विद्वानों ने उनके जन्मकाल के बारे में सुनिश्चित तिथि का उल्लेख किया है परन्तु नीलकंठ भट्ट द्वारा प्रणीत रचनाओं के आधार पर उनका जीवन काल स्थिर किया जा सकता है।

नीलकंठ भट्ट ने अपने आश्रय दाता राजा भगवन्त देव की प्रतिष्ठा में भगवत भास्कर नाम के एक विशालकालय निबन्ध की रचना की है। उन्होंने अपने इस निबंध की प्रकाश कुंज भास्कर (सूर्यदेव) के रूप में कल्पना की और तो और उसे बारह मयूखों में विभाजित किया। इन बारह मयूखों को उन्होंने प्रस्तुत नाम दिए। 1– संस्कार मयूख, आचार मयूख, श्राद्ध मयूख, नीति मयूख, व्यवहार मयूख, दान मयूख, उत्सर्ग मयूख, प्रतिष्ठा मयूख, प्रायश्चित मयूख, शुद्धिमयूख व शांति मयूख। 2–

नीलकंठ भट्ट ने इस वृहदकार निबन्ध के अतिरिक्त व्यवहार तत्व और दत्तक निरूपण की रचना की। व्यवहार तत्व उनके व्यवहार मयूख का ही संक्षिप्त नाम जान पड़ता है। उन्होंने महाभारत की भी संक्षिप्त व्याख्या की है। नीलकण्ठ कृत भारत भावदीप के नाम से व्याख्या प्रसिद्ध है। 3–

नीलकण्ठ भट्ट ने अपने व्यवहार तत्व नामक ग्रंथ में अपने ज्येष्ठ भ्राता दामोदर भट्ट द्वारा रचित कलिवर्ज्य निर्णय का उल्लेख किया है। 4– दामादेर भट्ट के सिद्धेश्वर नाम पुत्र ने वि.स. 1736 में संस्कार मयूख नामक ग्रंथ की रचना की।

नीलकंठ के समसामयिक ज्येष्ठ भ्राता (चचेरे भाई) कमलाकर भट्ट ने निर्णय सिन्धु की रचना ई. सन् 1612 में समाप्त की। 5– यह स्पष्ट है कि नीलकण्ठ का साहित्यिक जीवन कमलाकर के साहित्यिक जीवन प्रारंभ होन के पश्चात हुआ होगा। इसलिए कमलाकर भट्ट की इस कृति को समाप्ति के समय नीलकण्ठ भी किसी न किसी रूप में साहित्य सेवा करते होंगे। परन्तु इतना अवश्य है कि उनका साहित्य सृजन कार्य 1610 ई. के काफी पश्चात प्रारंभ हुआ होगा। 6–

नीलकण्ठ भट्ट अपने सहोदरों (पिता के चार पुत्रों में से) में सबसे कनिष्ट होने के कारण कमलाकर भट्ट के पूर्व उनका साहित्य सृजन कर लेना संभव नहीं था क्योंकि कमलाकर भट्ट अपने पिता रामकृष्ण भट्ट के द्वितीय पुत्र थे। रामकृष्ण, शंकर भट्ट प्रथम (नीलकण्ठ भट्ट के पिता) से ज्येष्ठ थे।

---

1. डॉ. श्याम लाल पांडेय, भारतीय राजशास्त्र प्रणेता पृष्ठ 405
2. प्रस्तावना : समय मयूख
3. डॉ. श्याम लाल पांडेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता पृष्ठ 405
4. नीलकण्ठ भट्ट कृत : व्यवहार तत्व पृष्ठ 405
5. डॉ. श्याम लाल पांडेय, भारतीय राजशास्त्र प्रणेता पृष्ठ 405
6. वहीं वही पृष्ठ 405

इस आधार पर नीलकण्ठ भट्ट द्वारा की गई साहित्यिक रचना ई. सन् 1640 के बाद की गई होगी।

नीलकण्ठ कृत व्यवहार तत्व में स्पष्ट है कि इसकी रचना होने के पूर्व वह व्यवहार मयूख की रचना कर चुके थे। व्यवहार तत्व की एक पाण्डुलिपि में संवत् 1700 अंकित है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहार तत्व की रचना संबत 1700 अथवा 1644 ई के पूर्व नहीं हो सकती। इस घटना से यह सिद्ध होता है कि नीलकण्ठ भट्ट का साहित्य सृजनकाल 1610 से 1645 ई. तक रहा है।1

बाम्बे रायल एशियाटिक सोसायटी के भाउदाजी के संकलन में शान्ति मयूख की पाण्डुलिपि में उसका रचनाकाल 1706 अर्थात ई. सन् 1650 बताया गया है। 2 नीलकण्ड द्वारा विरचित मयूखों में शान्तिमयूख 12वां व अन्तिम मयूख है। इस प्रकार उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि अन्तिम मयूख की रचना सन् 1650 के पश्चात की नहीं है। निःसंदेह मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट का साहित्य सृजन काल ई. सन् 1610 से 1650 के बीच का मानना चाहिए।

नीलकण्ठ भट्ट के भतीजे गांगा भट्ट जो कि मराठों के इतिहास में एक प्रसिद्ध व्यक्ति थे। ने ई. सन् 1674 में छत्रपति शिवाजी का राज्याभिषेक किया था। इस प्रकार नीलकण्ठ भट्ट के समकालीन गागा भट्ट ने सन् 1650 के आसपास ही प्रसिद्धि प्राप्त कर ली होगी।

नीककण्ठ भट्ट के पुत्र शंकर (द्वितीय) ने कुण्ड भास्कर की रचना 1676 में और उनके दौहित्र दिवाकर ने अपने आचारार्क ग्रंथ को 1668 में समाप्त किया। ये घटनाएं भी इस बात की पुष्टि करती हैं कि नीलकण्ठ का साहित्यिक जीवन 1610 ई. से 1645 ई. तक रहा है। 3

इसी विषय के सन्दर्भ में एक प्रमाण है कि नीलकण्ठ भट्ट के भतीजे सिद्धेश्वर भट्ट ने संस्कार मयूख की रचना ई. सन् 1680 में की थी। डॉ. पी.वी. काणे ने भी नीलकण्ठ भट्ट की रचन ाका समय ई. सन् 1610 से 1645 तक माना है। 4

मि. आफ्रेख के अनुसार, नीलकण्ठ भट्ट ने दो अन्य ग्रंथ धर्म प्रकाश और श्राद्ध प्रकाश लिखे हैं क्योंकि उनके संस्कार मयूख में धर्म प्रकाश का उल्लेख मिलता है। 5

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने जिस समय ग्रंथ लेखन आरंभ किया था उस समय भारत वर्ष में मुगल सम्राट जहांगीर का शासनकाल था और जिस समय वे ग्रंथ लिखे जा चुके थे। उस समय जगत प्रसिद्ध ताजमहल निर्माता शाहजहां का राज्य काल था। इस तरह इनका प्रादुर्भाव काल सन् 1640 से 1650 ई. तक माना जाता है। 6

---

1. डॉ. श्याम लाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता पृष्ठ 405–406
2. शान्ति मयूख के समापन लेख में नीलकण्ठ भट्ट का कथन
3. डॉ. श्याम लाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता पृष्ठ 406
4. धर्मशास्त्र का इतिहा : डॉ. पी.वी. काणे भाग 1
5. धर्म प्रकाशेतात चरणा : पृष्ठ 372 संस्कार मयूख गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बंबई ई. सन् 1913
6. भूमिका शान्ति मयूख, सम्पादक स्व. पं. वायुनंद मिश्र

पुत्ररत्न प्राप्त होने से पूर्व ही नीलकण्ठ भट्ट के पिता स्वर्ग सिधार चुके थे। इसीलिए नीलकण्ठ भट्ट ने अपने प्रथम पुत्र का नाम अपने पिता की स्मृति में शंकर भट्ट द्वितीय रखा था। भट्ट कुल के प्रथम पुरूष नागपाश भट्ट से लेकर नीलकण्ठ भट्ट तक केवल नीलकण्ठ भट्ट को ही कन्या पिता होने का सौभाग्य प्राप्त था।

नीलकण्ठ भट्ट के ज्ञात पूर्व पुरूषों में नागपाश पट्ट, चांगदेव भट्ट, गोविन्द देव भट्ट तथा रामेश्वर भट्ट हैं। रामेश्वर भट्ट के वंशज –नारायण भट्ट, श्रीधर भट्ट तथा माधव भट्ट। नारायण भट्ट के वंशज रामकृष्ण, शंकर (प्रथम) तथा गोविन्द भट्ट। रामकृष्ण के बंशज –दिनकर भट्ट कमलाकर भट्ट व लक्ष्मण भट्ट। शंकर भट्ट के बंशज रंगनाथ भट्ट, नरसिंह भट्ट व मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट। 2

नारायण भट्ट का ग्रंथ लेखन काल 1540 –1580 ई. माना जाता है। नारायण भट्ट ने अन्त्येष्टि पद्धति , त्रिस्थली सेतु 3 व प्रयोग रत्न आदि ग्रंथ लिखे थे। नामदार माण्डलिक के अनुसार नारायण भट्ट के दो (रामकृष्ण और शंकर) पुत्र थे लेकिन डॉ. पी.वी. काणे के अनुसार तीन –रामकृष्ण शंकर और गोविन्द (द्वितीय) पुत्र थे। 4

श्री नागपाश भट्ट से छठी पीढ़ी में नारायण भट्ट के ज्येष्ठ पुत्र एवं शंकर भट्ट (द्वितीय) पुत्र थे। 4

श्री नागपाश भट्ट से छठी पीढ़ी में नारायण भट्ट के ज्येष्ठ पुत्र एवं शकर भट्ट (प्रथम) के अग्रज रामकृष्ण थे। यह भी अपने पिता श्री के समान वेद शास्त्र के ज्ञाता थे। यह विशेष रूप से पूर्व मीमांसा शास्त्र में कुमारिल भट्ट सम्प्रदाय के उद्‌भव विद्वान के रूप में प्रसिद्ध थे। निर्णय सिंधु के रचयिता कमलाकर भट्ट ने अपने पिता रामकृष्ण भट्ट की विद्वता के विषय में स्वलिखित ग्रंथ शूद्र रत्नाकर 5 नामक ग्रंथ की प्रस्तावना में लिखा है। कमलाकर भट्ट के अनुज लक्ष्मण भट्ट ने भी अपने ग्रंथ आचार रत्न 6 में अपने पिता रामकृष्ण भट्ट की विद्वता के विषय में लिखा है। इन्होंने जीवित पितृ कर्तव्य निर्णय, मासिक श्राद्ध निर्णय, ज्योतिष्टोम आदि ग्रंथें की रचना व तंत्र वार्तिक पर टीका की थी।

भट्ट कुल की छटी पीढ़ी के ही रामकृष्ण के अनुज व द्वादश मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट के पिता शंकर भट्ट प्रथम प्रकाण्ड पंडित एवं विश्चात मीमासक थे। द्वैत निरूपण और धर्मप्रकाश अथवा सर्वधर्मप्रकाश के वह रचयिता बतलाए जाते हैं। उन्होंने शास्त्र दीपक, विधि रसायन दूषण और मीमांसा बलनाभ की व्याख्याएं लिखी हैं।

भट्ट कुल की सातवीं पीढ़ी में कमलाकर भट्ट रामकृष्ण के द्वितीय पुत्र थे। इन्होंने निर्णय सिंधु नामक ग्रंथ की रचना की थी। 8 कमलाकर भट्ट नीतिमयूखा कार नीलकण्ठ भट्ट के समसामयिक व चचेरे भाई थे। डॉ. पी.वी. काणे के अनुसार कमलाकर भट्ट का रचनाकाल ई. उ. 1610–1640 ई. है।9

---

1. डॉ. पी.. वी. काणे की व्यवहार मयूख की प्रस्तावना 1926 ई. ।
   प्रस्तावन धर्मसिन्धु म.प्र. श्री सदाशिव शास्त्रा –मुसलमांवकर चौखम्भा संस्कृत सीरीज 1968
2. भूमिका –वृत्त रत्नाकर : नारायण भट्ट।
3. प्रस्तावन : त्रिस्थली सेतु : नारायण भट्ट द्वारा लिखित।
4. डॉ. सदाशिव शास्त्री नीलकण्ठ व्यवहार मयूख एक शास्त्रीय विवेचन, पृष्ठ ५ सन् 1926
5. भूमिका :शूद्र रत्नाकार– कमलाकर भट्ट
6. भूमिका–आचार रत्न –लक्ष्मण भट्ट
7. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ. श्याम लाल पाण्डेय, पृष्ठ 404
8. वही वही पृष्ठ 404

इस प्रकार नीलभट्ट की रचनाओं के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि कालक्रम की अपेक्षा प्राचीन भारतीयों का ध्यान घटनाओं तथा उसके लक्षित होने वाले जीवन के सत्यों की ओर अधिक रहा है। इसी आधार पर भागवतकार ने मनुष्यों के जन्म मरण संबंधी इतिवृत को काकतीर्थ की संज्ञा दी है और यही कारण है कि भारतीय विद्वानों ने जन्मकाल संबंधी तिथियों का उल्लेख प्रायः अपने ग्रंथों में नहीं किया है।

यमुना और चंबल नदियें के संगम के पास स्थित भरेह नामक प्रांत के शासक बुंदेला सामन्त राजा भगवन्त देव थे यह साहित्य प्रेमी थे। नीलकण्ठ भट्ट ने भगवन्त देव की प्रतिष्ठा में भगवान भास्कर नाम के एक विशालकाय निबंध की रचना की।

आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने प्रायश्चित मयूख में संकेत किया है कि उन्होंने अपने आश्रयदाताओं के प्रेरणा से इस ग्रंथ का प्रणयन किया। 3 अपने आश्रय दाता महाराज भगवन्तदेव के संबंध में नीलकण्ठ भट्ट ने शांतिप्रिय मयूख में लिखा है कि –

चर्मणवती – तरणिजा– शुभसंगमस्य सानिध्यभाजि कृत शालिनी मध्य देशे।

ख्याता : भरह नगर किल तत्र राजा राजीव लोचन नर तो भगवन्त देवह। 4

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि चर्मणवती (चम्बल) और तरणिजा (यमुना) के संगम पर स्थित भरेह नगर वर्तमान जिला इटावा में भगवन्त देव शासन करते थे और राजाश्रय प्राप्त कर मीमांसक नीलकण्ठ भट्ट ने उसी नगर में ग्रंथ प्रणयन किया, क्योंकि महाराज भगवन्त देव साहित्यनुरागी थे।

नीलकण्ठ भट्ट का जीवन परिचय-

आचार्य नीलकण्ठ के वंशज मूल रूप से महाराष्ट्र के निवासी थे। नील कण्ठ भट्ट का पैत्रिक नाम नीलकण्ठ है तथा भट्ट इनका उपनाम है।आचार्य नीलकण्ठ भट्ट कुल के ज्ञात प्रथम पुरूष श्री नागपाश भट्ट से पांचवीं पीढ़ी के नारायण भट्ट के पैात्र व शंकर भट्ट के पुत्र थे। नीलकण्ठ, शंकर भट्ट के सबसे छोटे पुत्र थे। इनके चचेरे बड़े भाई का नाम कमलाकर भट्ट और पुत्र का नाम शंकर द्वितीय था। कमलाकर भट्ट व शंकर भी उच्च कोटि के पंडित थे। कमलाकर भट्ट ने निर्णय सिंधु नाम ग्रंथ की रचन की थी 5

---

1. श्रीमद् भागवत प्रथम स्कन्ध 5/10
2. डॉ. श्याम लाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता पृष्ठ 404–405
3. प्रायश्चित मयूखः वाराणसी संस्करण 1897
4. शांतिमयूख – भूमिका सम्पादक स्व. पं. श्री वायुनंद मिश्र
5. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता –डॉ. श्याम लाल पाण्डेय, पृष्ठ 404

इनके कमलाकर संज्ञक 12 ग्रंथ व विवाद ताण्डव आदि अन्य 10 ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट अपनी कुल परम्परानुसार सर्वशास्त्र सम्पन्न मीमांसा शास्त्र के ज्ञाता, प्रकाण्ड विद्वान, विनम्र स्वभावी, प्रतिभाशाली एवं एक योग्य वक्ता थे। निःसंदेह नीलकण्ठ भट्ट का परिवार सरस्वती का उपासक रहा है।

द्वाद्वश मयूखों में विवेचित विषयों का संक्षिप्त विवरण :

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट द्वारा विरचित द्वादस मयूखों में प्रतिपादित विषयों का परिचय निम्न प्रकार है।

1. संस्कार मयूख– मीमांसाकार नीलकण्ठ भट्ट ने संस्कार मयूख में गणेश पूजन, स्वास्तिवाचन, (जो कि सभी शुभ संस्कारों व शुभ अवसरों पर आवश्यक है) सभी 16 संस्कारों की गणना व उद्देश्य, रजोदर्शन विचार, रजस्वला नियम, व रजस्वला शुद्धि, गर्भाधान संस्कार की पद्धति का संपूर्ण विवरण, पुसंवन, सीमान्तोननयनम, जातकर्म, नामकरण, कर्णवध, अन्न प्राशन, चूड़ाकरण, विद्यारंभ उपनयन सभावर्तन, विवाह संस्कार का संपूर्ण विवरण, विधवा के कर्तव्य, स्त्री के धर्म, चारों वर्णो के धर्म तथा तीनों आश्रम--ग्रहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास का वर्णन किया है।

2. आचार मयूख– नीलकण्ठ भट्ट ने उक्त मयूख का निर्माण मानव जीवन में आचार की महत्ता एवं उपयोगिता के आधार पर किया है। इसमें आचार से संबंधित निम्न लिखित विषय प्रतिपादित है। प्रबोध प्रातः जागने का समय, ब्राह्म मुहूर्त के लक्षण, प्रातः स्मरण व भू प्रार्थना मूत्रपरीषोत्सर्ग, शौच विधि, अचमन विधि, दन्त धावन विधि, आदि दैनिक कृत्य, स्नान विधि का विस्तृत विवरण तिलक विधि, सन्ध्या बन्दन, सन्ध्याकाल, सन्ध्या प्रयोग का वर्णन ईश्वरीय ज्ञान के लिए किया है। गायत्री जाप, हर हरि शालग्राम प्रत्येक देवता की पूजा, बैश्यदेव, भोजन की विधि और भोजन के बाद के कृत्य तथा शयन के समय शुभाशुभ फलों का वर्णन है। 2

3– समय मयूख : समय मयूख का संबंध ज्योतिष शास्त्र से है। क्योंकि नीलकंठ भट्ट ने इसमें तिथियों का निर्णय, प्रमुख व्रत पद्धति जैसे –श्राद्धकाल पिण्ड, पितृयक्ष, ग्रहण का मास, नदी, क्षेत्र व दिन विशेष को महत्व तथा ग्रहण के समय भोजन करने पर प्रायश्चित, संक्रान्ती का निर्णय व कार्य, पक्ष व मास की विवरण, वर्ष के फाल्गुन चैत्र.......... माध, आदि 12 महीनों में किए जाने वाले कृत्य, अधिक मास और अधिक मास में करने और न करने योग्य कृत्य, ऋतु निर्णय, संवतत्सर, जन्म के दिन कृत्य, क्षोर के लिए निषिद्ध काल, तथा कलिवर्ज्य प्रकरण का वर्णन किया है।

---

1. विषयानुकमणिका : गुजराती प्रिटिंग प्रेस मुंबई 1913
2. विषयानुकमणिका : गुजराती प्रिटिंग प्रेस मुंबई 1975
3. विषयानुकमणिका : गुजराती प्रिटिंग प्रेस मुंबई 1918

4– श्राद्धमयूख : इस मयूख के मीमांसाकार नीलकण्ठ भट्ट ने श्राद्ध की परिभाषा, अष्टकाअन्वष्टका विचार श्राद्ध दो प्रकार, महालयश्राद्ध के लिए उचित समय व स्थान तथा श्राद्ध के लिए अधिकारी व्यक्ति, श्राद्ध में प्रयुक्त होने वाली सामग्री, श्राद्ध में मांस का निषेद्ध, कुश व तिल निरूपण, भोजन पात्र, श्राद्ध में वर्णित ब्राम्हण, श्राद्धकाल में यज्ञोपवीत धारण करने का प्रकार,, भोग के नियम, पिण्डदान के लिए उपयुक्त स्थान, ब्राह्मण दक्षिणा, श्राद्ध प्रयोग, श्राद्ध कृत्य सम्पादन में असमर्थ व्यक्ति को श्राद्ध किस प्रकार करना चाहिए, वृषात्सर्ग, षोड्स श्राद्ध जो सपिण्डन करते हैं, शुभ कार्य में किया जाने वाला श्राद्ध (नान्दी श्राद्ध, दैनिक श्राद्ध) पंचमहायज्ञान्तर्गत तर्पण तथा मृत शयनादान आदि का विस्तृत विवरण किया है।

5. नीतिमयूख : नीतिमयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में राज शब्दार्थ, राज्याभिषेक का समय व विधि का विस्तृत विवरण, भिषिक्तराजा का प्रजा पालन धर्म, राज्य के सात अंग –जैसे स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, कोध, बल और सुहृद, स्वामीनिरूपण तथा स्वामी कृत्य, राजा के गुण दोष, राजा के कर्तव्य, राजसेवकों के लक्षण, षाडगुण्डा विचार, मण्डल सिद्धांत, राजपुत्र के कर्तव्य राजपुत्र की यत्नपूर्वक रक्षा, अमात्यों के प्रकार व संख्या, संख्या, सुहृद, कोश, राष्ट्र दुर्गनिरूपण, बल तथा बलेकगज अश्व आदि 4 प्रकार, दूत प्रेषणम् चर निरूपण, स्कन्धावार स्थल वर्णन, सेनापति के लक्षण व कर्तव्य, ब्यूह, भेद, व्यूह रचना, कूट, युद्ध धर्म युद्ध, ब्राह्मण हनन विचार, युद्ध स्थल में योद्धाओं के लिए उपदेश, योद्धाओं के युद्धस्थल में मरने का फल तथा योद्धा के युद्ध स्थल से भागने पर दोष, रणेहवध्या तथा बीरोत्साहगर्भी निंदा परिहार का वर्णन किया है। 2

6– व्यवहार मयूख– इस मयूख नीलकंठ भट्ट ने व्यवहार के लक्षण, व्यवहार के अष्टादश पद, न्याय सभा, न्यायाधीश व उसके वैधानिक परामर्शदाता, प्रमाण जैसे लेख, भुक्ति, साक्षी, पवित्र जल, तप्त सुवर्ण तथा शपथ, स्वत्व निरूपण, दाय के प्रकार व समस्त दन्तक प्रकरण, स्त्रोधनम, ऋणादानम्, प्रतिभू निक्षेप, अस्वामी विकय सम्भूय समुत्थानम् वेतनदानम, विकीत सम्प्रदानाम, स्वामिपाल विवाद, सीमाविवाद, वाकपारूष्यम्, स्तेयम, साहसम, स्त्रीसग्रहणम् तथा धूतसमाहयों का वर्णन किया हैं। 3

7– दान मयूख : इस मयूख में मयूखाकार ने दान की परिभाषा, दान प्रशंसा, दान के तीन प्रकार, दान देने तथा लेने का अधिकारी, दान योग्य वस्तु, दान देने योग्य समय व स्थान, पंचरत्न, पंच्चगव्य, सातधातु, नौकोतुक गणेश, काम, नारायण आदि देवी देवताओं की

---

1. विषयानुकमाणिका : गुजराती प्रिटिग प्रेस मुंबई 1920
2. विषयानुकमाणिका : गुजराती प्रिटिंगा प्रेस मुंबई 1921
3: विषयानुकमाणिका : गुजराती प्रिटिग प्रेस मुंबई 1923

प्रतिमाओं के लक्षण व आकृतियों, सात धन्य, मण्डल लक्षण, गृहों की पूजा विधि– मंडप पूजा, द्वार पूजा, अभिषेक, पुरूषदान, तुलाविधि, रजत तुला विधि, घृत तुला विधि, कल्पतरू दानम्, सोलह महादानं आदि वैतरिणीदान, धान्य तथा वर्तन का दान, नौ गृहों का दान शयनादान, तथा हजार ब्राम्हणों के भोजन की विधि व नाना प्रकार की दृव्यों के दान में मंत्रों का प्रयोग दान मयूख में किया है।

8– उत्सर्ग मयूख : इस मयूख में जलाशय को जनता को दान करने की प्रशंसा, जलाशय का उत्सर्ग करने हेतु उपयुक्त समय, दानविधि, कुएं तथा तालाबों के दान की विधि, दान के लिए चौबीस (24) पण्डितों की आवश्यकता तथा उनके कर्तव्य, दान के अवसर पर देवताओं की स्तुति का प्रावधान जलाशयों के पास वृक्षारोपण तथा मंदिर एवं धर्मशालाओं की स्थापना का वर्णन किया है। 2

9– प्रतिष्ठा मयूख : नीलकण्ठ भट्ट ने इस मयूख में मंदिरों की प्रतिष्ठा करने का समय, प्रतिष्ठा की तैयारी (सभी आवश्यक सामग्रियों का संकलन) जल में स्थित मूर्तियों की दो प्रकार से प्रतिष्ठा जीर्णशीर्ण मंदिरों का पुनः विकास पद्धति तथा किसी प्रकार की दुर्घटना से क्षतिग्रस्त मूर्तियों की पुनः प्रतिष्ठा का वर्णन किया है। 3

10– प्रायश्चित मयूख : इसमें नीलकण्ठ भट्ट ने प्रायश्चित की परिभाषा प्रायश्चित के लक्षण, प्रायश्चित के निमित कुछ कार्य, प्रायश्चित के अधिकार, प्रायश्चित बताने वाली सभा का निर्माण, तथा प्रायश्चित करने का प्रारंभिक विधान, प्रायश्चित आचरण पर्यन्त धर्म जैसे होम, जप तथा ब्राम्हण भोजन आदि, विभिन्न प्रकार के पापकर्ता के लिए तीर्थटन करने के आदेश, पाप के भेद जैसे –ब्राह्मण हत्या, क्षत्रिय हत्या, स्त्री वध, गौ वध, दण्ड लक्षण, मद्यपान, मांस भक्षण, प्याज–लहसुन, शरीर के मल का भक्षण, स्त्री के साथ भोजन करने पर तथा अन्य वर्जित वस्तुओं के भक्षण करने पर प्रायश्चित , श्राद्धों में विजातीय (दूसरे जाति के लोगों से) तथा शूद्रों से अन्न ग्रहण करने पर प्रायश्चित, चोरी और व्यभिचार के लिए प्रायश्चित, राजस्वला, अस्पृश्य का स्पर्श करने पर प्रायश्चित उपपातकों के होने पर प्रायश्चित, तथा विभिन्न साधारण प्रायश्चितों का उल्लेख किया है। 4

11– शुद्धि मयूख : इस मयूख में नीलकण्ठ भट्ट ने पंच धातुओं 5 को निर्मित घरों की शुद्धि, पशु पक्षियों द्वारा अशुद्ध किए गए वर्तनों की शुद्धि, विभिन्न प्रकार के अस्त्रों की शुद्धि, सूर्य की धूप में शुद्ध करने के नियम, अशुद्धि काल, मृतगर्भ, प्रसवजन्य, मृत्यु, विवाह पूर्व कन्या मरण जन्य अशौच,

---

1. विषयानुकमाणिका : पंडित गोपाल भट्ट द्वारा संशोधित, विद्या विलास प्रेस बनारस सिटी 1909
2. विषयानुकमाणिका : गुजराती प्रिंटिंग प्रेस मुंबई 1925
3. विषयानुकमाणिका : गुजराती प्रिंटिंग प्रेस मुंबई 1930
4. विषयानुकमाणिका : गुजराती प्रिंटिंग प्रेस मुंबई 1940
5. सुवर्ण, रजत, ताम्र, लोहा और शीषा।

युद्ध में मृत्यु तथा विद्युत्पात से मृत्यु होने पर तत्काल शुद्धि, सर्पदंश से या खाट पर मृत्यु होने पर प्रायश्चित अपरिचित यां गरीब का अन्तिम संस्कार करने पर पुण्य, अस्थि संचय करने के योग्य समय, प्रयाग या काशी की गंगा में अस्थि विसर्जन करने पर पुण्य, मृत्यु पर नौ श्राद्ध करने का विधान, मृत्यु से ग्यारहवें दिन वृषोत्सर्ग, मृतक का दिन और मास का ज्ञान होने पर श्राद्धं की विधि, सहगमन के अयोग्य स्त्रियों, सपिण्ड का विदेश में प्रसव होने पर शुद्धि की विधि, सपिण्ड की विदेश मृत्यु होने पर शुद्धि की विधि तथा विवाह आदि में नान्दी श्राद्ध की विधि का वर्णन किया है।

12– शान्ति मयूख : अपने अन्तिम 12 वें मयूख शान्ति मयूख में नीलकण्ठ भट्ट ने शान्ति के लक्षण व परिभाषा तथा शान्ति के लिए विभिन्नि प्रकार की पूजा व होम उल्लेख, नौ ग्रहों के लक्षण, एक नक्षत्र में जन्म लेने पर शान्ति तथा जन्म के समय दो नक्षत्रों के होने पर शांति पाठ, वार (दिप) व नक्षात्र शांति विधि, ग्रहण शांति विधि, अचानक गृह के नष्ट होने पर शान्ति विधि, वृक्ष विकास शान्ति जैसे वृक्षों का रोना या हंसना, उत्पाद शान्ति, विद्युत्पाद, शान्ति, अश्व शान्ति, गज शान्ति तथा अंत में महाशान्ति पाठ का विधान है।

शोधित ग्रंथ –नीति मयूख :

शोधित ग्रंथ ''नीति मयूख'' भी इस विशालकाय ग्रंथ ''भगवद् भास्कर'' का ही एक मयूख (किरण) है। जिसमें राजधर्म विषय का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि नीलकण्ठ भट्ट ने राजशास्त्र अथवा राजधर्म को धर्मशास्त्र का ही एक उपयोगी अंग माना है। उन्होंने राजशास्त्र को स्वतंत्र विषय नहीं माना है। नीति मयूख का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वह अपने पूर्ण हैं। इस निबन्ध का उद्देश्य राजाओं को उनके व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक कर्तव्यों के विधिवत पथ प्रदर्शन, एवं निर्देशन करना है। इस निबंध के निर्माण में निबन्धकार ने श्रुति, मृति, रामायण, महाभारत, पुराण व नीति ग्रंथ आदि सभी प्रकार साहित्य का आश्रय लिया है। उन्होंने इस विशालकाय साहित्य का गंभीर एवं विवेकपूर्ण अध्ययन किया और उससे नीति मयूख की तथ्य पूर्ण एवं उपयुक्त विषय वस्तु चयन किया। नीति मयूख के अध्ययन से ज्ञान होता है कि नीलकण्ठ भट्ट संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ थे, उनका अध्ययन विशाल एवं गंभीर था।

नीलकण्ठ भट्ट स्मृति साहित्य, पुराणोतिहास, साहित्य व मीमांसा शास्त्र के नीति मयूख का महत्व :

नीलकण्ठ भट्ट ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के प्रसिद्ध निबन्धकार हुए हैं उन्होंने ''भगवद् भास्कर'' (सूर्य) नामक वृहदाकार तथा लोकोपयोगी ग्रंथ का प्रणयन किया।

---

1. डा. श्याम लाल पांडेय – भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, पृष्ठ 405

आचार्य प्रवर ने इस ग्रंथ को बारह खण्डों में विभाजित किया है तथा इस खण्डों को उन्होंने (मयूख) किरणों के रूप में विरचित किया है।

नीलकण्ठ कृत भगवतद् भास्कर का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि धर्मशास्त्र संबंधी उनका अध्ययन अति गंभीर तथा व्यापक है। मध्य कालीन भारत के निबन्धकारों में धर्मशास्त्र का उनका अध्ययन संभवतः सबसे अधिक जान पड़ता है। उन्होंने अपने इस धर्मशास्त्र संबंधी निबन्ध में मीमांसा –शैली अपनाकर उसका मूल्य तत्सबंधी अन्य निबन्धकारों के निबन्धों से कहीं अधिक बढ़ा दिया है। उनके निबन्धों में स्पष्टता है। शैली सरल, परिमार्जित तथा सुबोध है। नीलकण्ड के द्वारा संचय की गई सामग्री संक्षिप्त एवं सारयुक्त है। तथ्यहीन एवं अनर्गल विषय वस्तु का सर्वथा त्याग किया गया है तथा विषय वस्तु के विवेचन में गंभीरता एंव संतुलन का ध्यान रखा गया है।

''नीति मयूख'' इस विशालकाय ग्रंथ ''भगवद् भास्कर'' का ही एक मयूख (किरण) है राजधर्म –निबंधों में नीलकण्ठ कृत ''नीतिमयूख'' मुकुटमणि के समान है। यह ग्रंथ वास्तव में नीति का क्षीरसागर है। जिसमें राजनीतिक सिद्धांतों का उत्कृष्ट विवेचन है।

राजशास्त्र प्रणेताओं में नीलकण्ठ भट्ट का स्थान –

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट भी अपने पूर्ववर्ती व समकालीन लक्ष्मीधर भट्ट अनन्तदेव व मित्रमिश्र के समान ही शास्त्रानुसारी पण्डित हुए हैं। नीलकण्ठ भट्ट ने इनके समान ही राजशास्त्र को धर्मशास्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग माना है। उन्होंने राजशास्त्र की स्वतंत्र सत्ता का प्रतिपादन नहीं किया है। इस दृष्टि से वह लक्ष्मीधर मिश्र, व अनन्तदेव आदि धर्म निबन्धकारों की श्रेणी मे परिगणित किए जाएंगे। नीलकण्ठ भट्ट और लक्ष्मीधर के राजधर्म संबंधी निबन्धों में बहुत कुछ समानता दिखलाई पड़ती है। दोनों ने ही राज्य के सप्तांगों व राज्याभिषेक कृत्यों का वर्णन किया है। इतना होने पर भी दोनों में कई विषयों में अन्तर है।

लक्ष्मीधर व नीलकण्ठ भट्ट में सबसे बड़ा अन्तर विषय चयन का है। क्योंकि नीलकण्ठ ने राजशास्त्र संबंधी संभवतः किसी भी महत्वपूर्ण विषय को अपने निबन्ध नीति के मयूख में स्थान देने में उपेक्षा नहीं की है। इस प्रकार विषय की दृष्टि से नीलकण्ठ भट्ट का विषय क्षेत्र लक्ष्मीधर व अनन्त देव आदि सभी के क्षेत्र से विशाल है। इस प्रकार से नीलकण्ठ भट्ट का स्थान राजधर्म निबन्धकारों में सर्वोपरि है। इतना ही नहीं अपितु विषय वस्तु की दृष्टि से भी वह इन सभी निबन्धकारों से आगे है। नीलकण्ठ भट्ट ने अपने समकालीन निबन्धकारों के समान ही वर्णनात्मक शैली का अनुसरण किया है।

नीलकण्ठ भट्ट, लक्ष्मीधर भट्ट व अनन्तदेव की अपेक्षा किन्हीं विषयों में उदार जान पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने राज्याभिषेक को वैदिक एवं पौराणिक दोनों ही पद्धतियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इस दृष्टि से वह मित्रमिश्र व चण्डेश्वर के अनुरूप हैं।

इस प्रकार मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट राजधर्म निबन्धकारों में अति ऊँचा स्थान ग्रहण किए हुए हैं। उनका यह निबन्ध प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अध्ययन हेतु ज्ञानकोष का कार्य करता है।

द्वितीय अध्याय

नीलकण्ठ के राज्य, राजा, एवं राज्याभिषेक संबंधी विचार

राज्य के सप्तांग

प्राचीन भारत की राजनीतिक परम्परा के अनुसार मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने भी सप्तात्मक अथवा सप्तांग राज्य की कल्पना की है। उनका मत है कि राज्य के सात अंग होते हैं। इन्हीं सातों अंगो के संयोग से राज्य का निर्माण होता है। नीलकण्ठ भट्ट के मतानुसार राज्य के सात अंग "स्वामी, अमात्य, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना है।[1]

इस प्रकार नीलकण्ठ भट्ट ने मनु, कौटिल्य, भीष्म, शुक, कामन्दक एवं चण्डेश्वर के समान ही राज्य का सप्तात्मक अथवा सप्तांग स्वरूप माना जाता है।

मनु के राज्य के सात अंग –" स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड और सुहृद वताए हैं"[2]

शान्तिपर्व में भीष्म ने सप्तांगों को " आत्मा (राजा), अमात्य, कोश, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर के नाम से संबोधित किया है।" [3]

आचार्य कौटिल्य ने सप्तांगों के अन्तर्गत –"स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र को माना है।"[4]

आचार्य शुक्र के मतानुसार राज्य के सात अंग– "स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और बल है"।[5]

---

1. नीति मयूख : पृष्ठ 42
2. मनु : मानव धर्मशास्त्र – अध्याय 9, श्लोक 294
3. शान्तिपर्व : श्लोक : 64,65, 69
4. अर्थशास्त्र : वार्ता । अध्याय ।, अधि. 6
5. शुक्रनीति : अध्याय 1, श्लोक 61

कामन्दक ने "स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल और सुहृद को राज्य के सात अंग माना है"।[1]

राजनीतिक निबन्धकार चण्डेश्वर ने भी – "स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोश, दण्ड, दुर्ग और राष्ट्र को राज्य की सात प्रकृतियाँ माना है"।[2]

सभी प्राचीन राज शास्त्र प्रणेताओं ने राज्य के इन सात अंगों का सविस्तार उल्लेख अपने अपने ग्रंथों में किया है। लेकिन नीलकण्ठ भट्ट इस विषय में मौन हैं अर्थात उन्होंने इस विषय में विस्तार से उल्लेख नहीं किया है। वह राज्य के सप्तांगों को परस्पर उपयोगी मानते हैं और किसी भी अंग को एक दूसरे से छोटा बड़ा नहीं मानते। उन्होंने राज्य के स्वाभाविक रूप के लिए राज्य के सप्तांगों का रहना आवश्यक माना है।[3] नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि राज्य के सप्तांगों में से किसी भी अंग में विकार (व्यसन) उत्पन्न होने से राज्य नष्ट हो जाता है। लेकिन उन्होंने सप्तांगों के व्यसन मुक्त रहने को कहा है।[4] ऐसा किसी दूसरे विद्वान ने नहीं कहा है।

इस प्रकार नीलकण्ठ भट्ट के राज्य सप्तांगों का स्वरूप लगभग वही है जो कि मनु, भीष्म और कामन्दक आदि द्वारा निर्धारित किया गया है।

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत–

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए राज्य को आवश्यक माना है। परन्तु उन्होंने राज्य की उत्पत्ति की विवेचना नहीं की है। ऐतिहासिक युग के आरंभ से ही राज्य विद्यमान रहा है। लेकिन सर्वप्रथम राज्य का प्रादुर्भाव कब और किन साधनों से हुआ यह अभी अज्ञात है। प्राचीन राजशास्त्र पणेताओं ने राज्य की उत्पत्ति के विषय में कुछ सिद्धांत अवश्य प्रतिपादित किए हैं। वही सिद्धांत राज्य की उत्पत्ति के विषय में मान्य ठहराए जा सकते हैं।

---

1. कामन्दक नीति : सर्ग 4 श्लोक।
2. पुरोहितादिकृतराज्यदानम् : रानीति रत्नाकर
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 42
4. वही वही

महाभारत से ज्ञात होता है कि ऐतिहासिक युग से पूर्व एक ऐसा भी युग था, जब देश में न राज्य था और न ही राजा।

'नैव राज्यं न राजा सन्नि दण्डो न दण्डिकः।

धर्मेणेव प्रजा सर्वा रक्षन्ति च परस्परम् ।।'[1]

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य की उत्पत्ति के विषय में विस्तृत रूप से व्याख्या नहीं की है, लेकिन राज्य के स्वरूप की कल्पना उन्होंने अवश्य की है । जैसे – मनु केवल एक ही सिद्धान्त में आस्था रखते हैं, जिसे राजा का दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त मानते हैं।[2]

शान्तिपर्व में जो राजनीतिक सामग्री प्राप्त है उससे स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति के विषय में भीष्म दो सिद्धान्तों में आस्था रखते हैं। ये दो सिद्धान्त राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त और अनुबन्धवाद है।[3]

मयूखाकार नीलकंठ भट्ट नीतिमयूख में राजा व राज्य की उत्पत्ति के विषय में मौन है। इस विषय में चर्चा उन्होंने सविस्तार नहीं की है। अतः इस महत्वपूर्ण विषय पर उनका क्या मत रहा होगा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इस विषय पर वह मौन क्यों है ? स्पष्ट नहीं है। सम्भवतया उन्होंने भी इस विषय में अपने पूर्ववर्ती कौटिल्य व कामन्दक का अनुसरण किया हो क्योंकि उक्त दोनों ही राजशास्त्र प्रणेताओं ने अपने– अपने ग्रंथों में राजशास्त्र का सविस्तार उल्लेख किया है। लेकिन इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त की उपेक्षा की है। कौटिल्य और कामन्दक की तरह नीलकण्ठ ने भी परोक्ष विधि से इस विषय पर कुछ संकेत दिए हैं। मयूखाकार की इस ओर उदासीनता का

---

1. शान्ति पर्व – अध्याय – 59 श्लोक 14
2. मनु : मानव धर्म शास्त्र : अध्याय – 7 श्लोक – 4
3 शान्तिपर्व : अध्याय – 59 श्लोक – 5

राज्य अथवा राजा की उत्पत्ति के किसी एक विशेष सिद्धांत में तत्कालीन जनता की अटूट निष्ठा होना रहा है। इस अटूट आस्था के कारण ही इस विषय में टीकाटिप्पणी की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी। नीलकण्ठ भट्ट के समय राजा की देवी--उत्पत्ति के सिद्धांत की प्रधानता थी। इस सिद्धांत से जनता के हृदय में विशेष स्थान ग्रहण करके राजा का स्वरूप सर्वदेवमय बन चुका था।

मनु के मत को उद्धृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि "राजा दण्ड का प्रतीक है, और राजा का निर्माण प्रभु, स्वयं संसार के प्राणिमात्र की रक्षा के लिए करता है। इस राजा के निर्माण में वह आठ प्रधान देवों--इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्र और कुबेर--की शाश्वत मात्राओं (सारभूत अंशों) को निकालकर, उनका संचय कर, उनके संयोग से राजा का सृजन करता है।[1] अतः वह राजा को इस धरती पर देवतुल्य मानते हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि नीलकण्ठ ने मनु के समान ही राजा को इस पृथ्वी तल पर मनुष्य रूप धारण कर विचरण करने वाला देव माना है।[2]

राजा शब्द का अर्थ :

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने अपने समकालीन चण्डेश्वर की तरह राजा शब्द के अर्थ की विवेचना सविस्तार की है। नीलकण्ठ के अनुसार राजा शब्द जाति परक नहीं है। अर्थात् वह राजा – क्षत्रिय मात्र को ही नहीं मानते, बल्कि वह राजा से अभिप्राय राजयोगियों से लगाते हैं।[3]

इस मत के अनुयायी राजनीतिक विचारक "राजा किसी भी जाति का हो सकता है " इस सिद्धान्त में आस्था रखते हैं। राजा क्षत्रिय शब्द का पर्याय नहीं है, इसलिए क्षत्रिय धर्म और राज धर्म– ये दोनों भी एक ही अर्थ के वाचक नहीं हैं। इस मत के अनुयायियों के अनुसार राजधर्म का पालन करने वाला राजा होता है।[4] इसलिए जो भी पुरूष प्रजा --परिपालन करता है, वह राजा

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 42
2. वही वही
3. नीतिमयूख : पृष्ठ।
4. अग्निपुराण

कहलाता है।[1] इस मत के अनुसार राजा शब्द नृपतिवाचक है, क्षत्रिय वाचक नहीं।[2] इसलिए राजा क्षत्रिय इतर जाति का भी हो सकता है। प्राचीन समय में क्षत्रिय इतर जाति के पुरूष भी राजा हुए हैं, जिन्हें श्रुतियों में भी वैध राजा माना गया है।[3]

इस प्रकार नीलकण्ठ भट्ट ने राजा शब्द के अर्थ के विषय में चण्डेश्वर, मित्रमिश्र, मेधातिथि व कुल्लूक भट्ट तथा विज्ञानेश्वर के मत का अनुसरण किया है। नीलकण्ठ भट्ट के समय में मुसलमान नरेशों ने भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था। तब इन मुसलमान नरेशों को विधि विहित राजा स्वीकार करना ही था। इसलिए इन परिस्थितियों में राज्याधिकार क्षत्रिय वर्णमात्र तक सीमित नहीं रखा जा सकता था। नीलकण्ठ ने भी इस समस्या को समझकर और अन्य उदार विचारकों के मत की पुष्टि कर राज्याधिकार में जातीय अथवा वर्ण के मतत्व को अनावश्यक बतलाकर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।

राज्याभिषेक :

प्राचीन भारत में वेदमत और लोकमत, दोनों के अनुसार राजपद प्राप्ति के निमित्त राज्याभिषेक अनिवार्यकृत्य समझा जाता था। इस सिद्धांत के अनुसार कोई भी व्यक्ति उस समय तक विधि विहित राजा नहीं समझा जाता था, जब तक कि शास्त्रानुसार उसका राज्याभिषेक नहीं हो जाता था। अनभिषिक्त राजा, लोक की दृष्टि में पतित एवं निंदनीय समझा जाता था। प्राचीन भारत में इस सिद्धांत का पालन निरन्तर होता रहा। यहां तक कि अधीनस्थ राजाओं के लिए भी शास्त्रानुसार अभिषिक्त होना अनिवार्य कृत्य समझा जाता था।

ऐतरेय ब्राह्मण व गोपथ ब्राह्मण आदि ब्राह्मण ग्रंथों में, विष्णु धर्मोत्तर पुराण, आदि पुराण, अग्निपुराण, ब्रह्मपुराण आदि, पौराणिक ग्रंथों में तथा मध्यकालीन प्राचीन भारत के राजनीतिक आचार्य मित्रमिश्र ने राजनीति प्रकाश[4] में, अनन्त देव ने राजधर्म कौस्तुभ[5] में, तथा नीलकण्ठ भट्ट ने

---

1. राजनीतिप्रकाश : राजशब्दार्थ विचार
2. राजनीतिक प्रकाश : राजशब्दार्थ विचार
3. राजनीति प्रकाश : राजशब्दार्थ विचार
4. राजनीति प्रकाश : पृष्ठ 43–112
5. राजधर्म कौस्तुभ : पृष्ठ 337–374

नीतिमयूख में,[1] राज्याभिषेक की दोनों ही वैदिक व पौराणिक पद्धति का वर्णन किया है।

ऐतरेय ब्राम्हण[2] में इन्द्र के महाभिषेक (ऐन्द्र महाभिषेक) का वर्णन इस प्रकार है— कि एन्द्र महाभिषेक की विधि के अनुसार ही क्षत्रिय को शपथ लेकर मुकुट धारण करना चाहिए। पुरोहित के समक्ष क्षत्रिय जो शपथ लेता है, वह इस प्रकार है— "यदि मैं आपको घृणा की दृष्टि से देखूं या आपके प्रति असत्य ठहरू तो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अच्छे कर्तव्यों द्वारा जो कुछ गुण अर्जित करूं वे सब, तथा मेरे सत्कार्य, प्राण, सन्तति आदि सभी आप नष्ट कर दें।

राज्याभिषेक में प्रयुक्त होने वाली सामग्रियों की सूची ऐतरेय ब्राम्हण में इस प्रकार है— यथा न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष नामक वृक्षों के फल, छोटे—बड़े अक्षत, प्रिंगगु एवं जौ, उदुम्यर का पलंग, उदुम्बर का चतुर्मुख चमस, दही, घृत, मक्खन, वर्षा का जल। अभिषेकनीयकृत्य—जिसमें उदुम्बर के सत्रह बरतनों में रखे गए सत्रह उद्‌गमों के जल से स्नान किया जाता है। "रत्निनां हवीसि" अर्थात।[2] रत्नों के हारों की आहुतियां आदि का उल्लेख है।

अग्निपुराण में राज्याभिषेक की विधि का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है – स्नान (तिल एवं सरसों से युक्त जल से), भद्रासन पर बैठना, अभय की घोषणा, बन्दीगृह से कुछ बन्दियों को छोड़ना ऐन्द्रीशान्ति, राजा द्वारा उपवास, मंत्रोच्चारण, पर्वत—शिखर एवं अन्य स्थानों से लाई गई मिट्‌टी से राजा के सिर एवं अन्य अंगों को शुद्ध करना, पच्चगव्य छिड़कना, चारों वर्णों के अमात्यों द्वारा सोने चांदी, तांबे एवं मिट्‌टी के चार घड़ों के जल से अभिषेक, मधुमिश्रित जल से ऋग्वेदी द्वारा, कुशमिश्रित जल से सामवेदी द्वारा, यजुर्वेदी एवं अथर्ववेदी ब्राम्हणों द्वारा राजा के सिर एवं कंठ को पीले रंग से स्पर्श करते हुए अभिषेक करना चाहिए, अभिषेक के समय गान एवं वाद्य यंत्र वजाना, राजा के समक्ष पंखे एवं चमर पकड़कर खड़े रहने का कृत्य, राजा द्वारा घृत एवं शीशे में छाया दर्शन, विष्णु तथा अन्य देवी की पूजा, व्याघ्र चर्म पर बैठना, पुरोहित द्वारा मधुपर्क देना, राजा के लिए सिर पर एक पटट बांधना, एवं उस पर मुकुट रखना, प्रतिहार द्वारा मंत्रियों को उपस्थित करना, राजा द्वारा पुरोहितों एवं अन्य ब्राम्हणों को भेंट देना, हाथी का सम्मान करना तथा उस पर आरोहण,राजधानी में

---

1. नीतिमयूख : 1—13
2. ऐतरेय ब्राम्हण : पृष्ठ 38—39

जूलस निकालना, तथा सभी लोगों का सम्मान करना एवं उनसे विदा लेना आदि कार्य संपन्न किए जाते हैं।[1]

रामायण[2] (युद्धकाण्ड) में राज्याभिषेक का स्वरूप इस प्रकार है – "राम का क्षीर कर्म किया गया, स्नान के उपरांत उन्होंने मूल्यवान परिधान धारण किए, सीता का भी यथोचित अलंकरण किया गया, राम रथ पर बैठकर राजधानी में घूमें, भरत के हाथों में लगाम थी, शत्रुघ्न ने शस्त्र उठा रखा था, और लक्ष्मण के हाथ में चमर था इसके उपरांत राम हाथी पर बैठे, दु:दुंभी बजी एवं शंख ध्वनि की गई। शुभ लक्ष्णों के रूप में सोना, गाएं, कुमारियां, ब्राह्मण, मिठाई लिए हुए पुरूष आदि राम के सामने से गए या ले जाए गए। नागरिकों के हाथ में पताकाएँ थीं। प्रत्येक घर पर झंडे फहरा रहे थे। जामवन्त, हनुमान और अन्य दो व्यक्ति चार कलसों में समुद्र जल लाए। इसी प्रकार पांच सौ नदियों का जल कलसों में लाया गया। कुल पुरोहित एवं वृद्ध मुनि विशिष्ट ने राम और सीता को रत्न जटित सिंहासन पर बैठाया सर्वप्रथम वशिष्ट एवं अन्य मुनियों ने राम पर पवित्र एवं सुगंधित जल छिड़का। इसके उपरांत वही कार्य कुमारियों, मंत्रियों, सैनिकों आदि अन्य लोगों ने किया, वशिष्ठ ने राम के सिर पर अति प्राचीन मुकुट रखा। तब गान एवं नृत्य के क्रम चले। राम ने पुरोहितों, अपने मित्रों एवं सहायकों–सुग्रीव, अंगद, विभीषण आदि को भेंट दीं। तथा सीता ने हनुमान को कंठहार दिया।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण[3] में राज्याभिषेक के विषय में कहा गया है कि –राजा के मारे जाने पर उत्तराधिकारी के राज्याभिषेक के लिए किसी शुभ घड़ी की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। तिल एवं सरसों से युक्त जल से स्नान कराना चाहिए उसके नाम से घोषणा निकाल देनी चाहिए कि उसने उत्तराधिकार संभाल लिया है। भूतपूर्व राजा के आसन के अतिरिक्त अन्य आसन पर बैठकर पुरोहित को चाहिए कि वे नव अभीषिक्त राजा को दिखला दें। राजा को प्रजा का सम्मान करना चाहिए, शान्ति एवं रक्षा की घोषणा करनी चाहिए कुछ बन्दियों को छोड़ देना चाहिए और औपचारिक राज्याभिषेक की प्रतीक्षा करनी चाहिएं।

---

1. अग्निपुराण : अध्याय 218–219
2. रामायण (युद्धकाण्ड) : पृष्ठ 131
3. विष्णु धर्मोत्तर पुराण : 2/18/2–4

राज्याभिषेक की पद्धति का उल्लेख करते हुए विष्णु धर्मोत्तर पुराण[3] में कहा गया है कि सर्वप्रथम इन्द्र के सम्मान में पौरन्दरी या ऐन्द्री शान्ति, नामक शान्ति कृत्य किया जाता है। वैदिक मंत्रों [2] (स्वस्त्ययन, आयुष्य, अभय एवं अपराजित मंत्रों) एवं अन्य कृत्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन, पौराणिक मंत्रों[3] (कुल मिलाकर 182 श्लोकों में) (द्वारा ब्रह्मा, नक्षत्रों) (कृतिका से भरणी तक), ग्रहों, 14 मनुओं, 11 रूद्रों, विश्वदेवों, गन्धर्वों, अप्सराओं, दानवों, डाकीनियों, गरूढ़ जैसे पक्षियों, नागों वेद व्यास जैसे मुनियों, पृथु, दिलीप, भरत जैसे सम्राटों, बेदों और विद्याओं, नारियों आदि को राजा को मुकुट पहनाने के लिए आह्वान किया गया।

डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल[4] ने भी स्वीकार किया है कि ब्राम्हण (साहित्य के सृजन) युग में राज्याभिषेक विशद् कर्मकाण्डीय एवं अत्यधिक जटिल हो गया था। विशेष राज्यकीय संस्कारों का आयोजन किया जाता था किन्तु वे वैदिक युग की संवैधानिक योजनाओं के अनुकूल थे। वास्तव में उसी आधार पर राज प्रतिष्ठा के नियमों का निर्धारण हुआ, और वे सदा के लिए निश्चिंत हो गए। इस युग के अभिषिक्त राजाओं ने उनका अनुकरण किया क्योंकि विधान एवं कर्मकाण्ड के कट्टर मत के अनुसार उनके (पालन) बिना भी (व्यक्ति) राजा नहीं हो सकता था।

राजनीतिज्ञ निबन्धकार अनन्तदेव[5] ने अपने ग्रंथ राजधर्म कौस्तुभ में राज्याभिषेक का सविस्तार वर्णन करते हुए कहा है कि –सर्वप्रथम शान्तिकृत्य का सम्पादन होता है दूसरे दिन ईशान (रूद्र) को आहूति दी जाती है। तीसरे दिन ग्रहों, जल के देवताओं, पृथ्वी नारायण, इन्द्र आदि की पूजा तथा नक्षत्रों का आह्वान होता है, चौथे दिन नक्षत्रों के लिए यज्ञ किया जाता है। पाचवें दिन रात्रि में निऋति नाम देवी काला परिधान धारण किए हुए गधे पर बैठी मिट्टी की मूर्ति को आहूति दी जाती है। छठें दिन इन्द्री शान्ति का कृत्य होता है और इसके उपरांत विष्णु धर्मोत्तर में वर्णित कृत्य सम्पादित होते हैं।

---

1. विष्णु धर्मोत्तर पुराण : 2/19
2. वही : 2/21
3. वही 2/22
4. हिन्दू पैालिटी : पृष्ठ 192
5. अनन्तदेव : राजधर्म कौस्तक, पृष्ठ 318–363

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने भी राजपद प्राप्ति के लिए राज्याभिषेक अनिवार्य कृत्य माना है। इन्होंने राज्याभिषेक के कृत्यों का वर्णन विस्तार पूर्वक किया है। राज्याभिषेक के वर्णन में उन्होंने मुख्य रूप से विष्णु धर्मोत्तर पुराण एवं देवी पुराण से उपयुक्त सामग्री का चयन किया है। नीतिमयूख में इन द्वय पौराणिक पद्धति के साथ ही ब्राह्मण की राज्याभिषेक संबंधी पद्धति का भी पुट दिया गया है।

नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में अभिषिक्त राजा की योग्यता एवं अभिषेक की विधि का वर्णन इस प्रकार किया है – जब राजा अभिषेक के योग्य हो जाए, जब ज्योतिषियों (ज्योर्तिविदों), के द्वारा अभिषेक की संपूर्ण सामग्री एकत्रित करके अभिषिक्त राजा का अभिषेक करना चाहिए।[1] यदि राजा अपने शासन काल में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उस समय (वहां पर) उत्तराधिकारी के अभिषेक का कोई नियम नहीं है। उस समय तिल एवं सरसों (तिलोदक) से मिले जल विधिपूर्वक स्नान कराना चाहिए। ज्योतिषी व पुरोहितों के द्वारा नवअभिषिक्त राजा के जयकार की घोषणा करके कि भावी राजा ने उत्तराधिकार सभाल लिया है और भावी राजा को पूर्व राजा के आसन के अतिरिक्त दूसरे आसन पर बैठाकर जनता को दर्शन कराने चाहिए। वह अभिषेकार्थी राजा लोगों को संत्वना प्रदान करते हुए यदि अपनी भूमि बन्धनगत हो अर्थात दूसरे के अधिकार में हो तो उसको मुक्त कराकर तथा प्रजा को अभय घोषित करके उत्तराधिकारी राजा को अभिषेक के काल की आंकाक्षा करनी चाहिए तथा ज्योतिषियों व पुरोहितों के द्वारा निर्धारित किए गए समय पर अपना अभिषेक करावें।[2] और जब पूर्व राजा के जीवित रहते हुए ही किन्हीं कारणों वश किसी अन्य व्यक्ति या राजा के उत्तराधिकारी का अभिषेक किया जाता है। तो अभिषेक के समय की प्रतीक्षा किए बिना उसी समय राजा के उत्तराधिकारी का राज्याभिषेक करना चाहिए।[3]

राज्याभिषेक के समय पुरोहित को इन्द्रियों की शांति का कार्य भी करना चाहिए।

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 1
2. वही वही
3. वही वही

नीलकण्ठ भट्ट ने पोरन्दरी का अभिप्राय इन्द्रियों का निग्रह बताया है।[1]

अभिषेक के दिवस (दिन) के प्राप्त होने पर, श्वेत माला धारण करके, जनेऊ (यज्ञोपवीत) धारण करके, सब प्रकार के राजोचित आभूषण धारण करके, पुरोहित के द्वारा यज्ञवेदी का निर्माण करके, मंत्रों के द्वारा विधि पूर्वक हवन करके, शर्म, वर्म, स्वस्त्ययन, आयुरव और अभय इन पांच गणों को अपराजित स्थिति पर लाकर अभिषेक की विधि को प्राप्त करें।[2] उत्तराधिकारी राजा यज्ञवेदिका के दक्षिण भाग में श्वेत चंदन से आभूषित तथा सोने से निर्मित कलश की स्थापना कर, स्वयं श्वेत वस्त्रों को धारणा कर, तथा श्वेत चन्दन आदि का लेप करके, सब प्रकार के आभूषणों (आभरणों) से आभूषित हाकर हुतासन पर हवन करने के निमित्त सुखपूर्वक उक्त किया को देखें, विशेषकर ज्योतिषी के वाक्यों को चतुरतापूर्वक ध्यान में रखें तथा ज्योतिषी एवं वहां के जो प्रमुख सदस्य हैं वे सभी पुरोहित के कार्यों को भली भांति देखें।[3]

स्वर्ण के समान प्रभावशाली, तथा प्रदक्षिणा की आवर्ती से युक्त लौ वाली, धूमरहित, रथ के चक्र की एवं मेघों की गर्जना के शब्दों रहित अग्नि देव का अवलोकन करें। सुगन्धिकी निरन्तरता के साथ स्वास्तिक की स्थापना के साथ, राजा की वृद्धि के लिए किए जाने वाले कार्यों को तथा राज और ग्रह के भेदों (स्वास्तिक, वर्द्धमान, नदी और आवर्त यह राजगृह के भेद हैं) का भी अवलोकन करना चाहिए।[4] वह अभिषिक्त राजा प्रसन्नतापूर्वक चिनगारियों से रहित, लेकिन महाज्वाला वाली अग्नि में हवन करें। स्वाहा की समाप्ति पर यदि वह अग्नि प्रज्जवलित हेती है तो यह समझना चाहिए कि अग्निदेव राजा के ऊपर प्रसन्न हैं और राजा द्वारा देव मुख होकर के दिया गया जो हविष्यान है उसको अग्निदेव खा रहे हैं। इसमें राजा का हित अवश्य होना चाहिए। अग्निदेव में समर्पित किया गया हविष्यान्न यदि धीरे–धीरे सुलगता (जलता) है तो राजा का अहित निश्चित रूप समझना चाहिए।[5]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 2
2. वही वही
3. वही वही
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 2–3
5. वही वही 3

धर्म को जानने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह (अभिषिक्त राजा) बिल्ली, मृग पक्षी तथा चीटियों के मध्य न चले, तभी राजा के ऊपर विजय प्राप्त की जा सकती है। अंगहार आदि के लाभ में यजन करना चाहिए तथा राजा की जय बोलनी चाहिए। जय कार में पत्थर को भेदने वाली आवाज का उच्चारण करना चाहिए। राजा को होमकाल के प्रारंभ में स्वेच्छा से स्नान करना चाहिए। पुनः पुरोहित के द्वारा ऋग्वेद से अभिमंत्रित जल से स्नान करना चाहिए, तभी होम प्रारंभ करें।[1]

नीलकण्ठ भट्ट ने अभिषेक होने वाले राजा के लिए जल स्नान पर मृदा स्नान (मिट्टी द्वारा शरीर को शुद्ध करना) का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस राजा का अभिषेक हो रहा है उसको पर्वत के अग्र भाग से प्राप्त हुई मिट्टी के द्वारा अपने सेवकों, बॉवी की मिट्टी से कानों को विष्णु मंदिर से प्राप्त मृदा के द्वारा मुख को, इन्द्रालय से प्राप्त मिट्टी के द्वारा गले को, राजा के आंगन से प्राप्त मिट्टी से हृदय को, हाथी के दांतों से उखाड़ कर फेंकी गई मिट्टी के द्वारा दाहिनी भुजा को तालाब की मिट्टी से पीठ को, नदी के संगम से प्राप्त की गई मिट्टी से उदर को नदी के दोनों किनारों से प्राप्त मिट्टी से पार्श्व भाग को वैश्या के द्वार से प्राप्त मिट्टी से कमर को हाथी के बंधान स्थान से प्राप्त मिट्टी के द्वारा उरू को, गौशाला से प्राप्त मिट्टी के द्वारा घुटनों को अश्वशाला से प्राप्त मिट्टी से दोनो जंघाओं को रक्त चक्र से उठी मिट्टी के द्वारा अपने दोनों पैरों को शोधित करें। नीलकण्ठ भट्ट ने दोनों चरणों के साथ दोनों हाथों को भी शुद्ध करने के लिए कहा है।[2]

मिट्टी के स्नान से पवित्र होने के उपरांत पच्चगव्य (पंच्चगव्य –गोमूत्र, गोवर गाय का घी, गाय का दूध, गाय का दही) से युक्त जन से स्नान करें। इसके पश्चात श्रेष्ठ आसन पर बैठकर अपने चारों मुख्यमंत्रियों एवं सेना के प्रधान द्वारा यथाविधि राजा का अभिषेक किया जाना चाहिए।[3]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 3
2. वही वही
3. वही वही

वाडव अर्थात ब्राह्मण घी से भरे हुए सोने के घड़ों से राजा का अभिषेक करें। क्षत्रिय दूध से भरे हुए चांदी के कलसों से दाहिनी ओर से राजा का अभिषेक करें। वैश्य दही से भरे हुए तांबे के कलसों से पीछे से राजा का अभिषेक करें। तथा शूद्र लोग गाय के सींग तथा पूंछ से संबंधित जल से अमात्यों के साथ राजा का अभिषेक करें।[1]

नीलकण्ठ का मत है कि जिन मंत्रों का वर्णन राजसूय अभिषेक में किया गया है उन्हीं मंत्रों के द्वारा ब्राह्मण के स्वर से राजा का अभिषेक करना चाहिए तथा पुरोहित को जहां पर वेदी का निर्माण हुआ है जाना चाहिए, और राजोचित आभूषणों से आभूषित राजा को राजोचित श्रेष्ठ आसन पर उसी बेदी के पास (पार्श्व) बिठाना चाहिए।[2]

अभिषिक्त राजा के लिए भद्रासन के लक्षणों का उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि –सोना, चांदी, तांबा अथवा जिस वृक्ष से दूध निकलता हो, अर्थात खिरनी की लकड़ी से बना हुआ हो भद्रासन कहा जाता है। भद्रासन की ऊंचाई डेढ़ हाथ हो, और मण्डलाधीशों के आसन से राजा का आसन डेढ़ हाथ ऊंचा ही होना चाहिए। आसन की तीन प्रकार की उन्नतिशीलता होनी चाहिए। भद्रासन हाथ और पैरों के अर्द्ध भाग से उन्नत होना चाहिए, समस्त राजार्थियों के लिए वही आसन शुभ होता है जो मण्डलाधीशों के आसन से अन्तर रखता हो।[3]

नीलकण्ठ का मत है कि राजा का अभिषेक स्वर्ण से निर्मित पात्र के द्वारा जिसमें कि 100 छिद्र हों, धर्म के जानने वाले बेद को अच्छी प्रकार जानने वाले, जो औषधि तथा औषधियों से निर्मित औषधियों से श्रेष्ठ मन से समाहित होकर संपूर्ण ब्राह्मण मंडल के साथ, सुगन्धि से युक्त होकर, रथ पर बैठकर बीज, पुष्प, पराग तथा पुष्पवती भूमि पर उन्हीं मंत्रों के द्वारा तथा फलों के द्वारा एवं सब प्रकार के रत्नों के द्वारा कल्याण के इच्छुक राजा का अभिषेक किया जाना चाहिए तथा जो देवता एवं पुरवासी हैं उनके द्वारा कुशा से परिमार्जन किया जाना चाहिए। ऋग्वेद के जानने वाले के द्वारा राजा का विधि पूर्वक रोचन (लेपन) किया जाना चाहिए तथा सिर तथा कण्ठ का गन्ध के द्वारा

---

1. नीतिमयूख :पृष्ठ 4
2. वही वही
3. वही वही

स्पर्श करना चाहिए। मुख्य ब्राह्मणों के द्वारा, क्षत्रियों के द्वारा, वैश्यों के द्वारा तथा मुख्य शूद्रों के द्वारा, नाना तीर्थों से प्राप्त जल से, नदी से प्राप्त जल से, तालाब से प्राप्त जल से, नाना प्रकार के कूपों से प्राप्त जल से, कलसों में रखे हुए जल से तथा चारों सागरों से प्राप्त जल से, गंगा, जमुना, झरने तालाब से प्राप्त जल को हाथ में लेकर राजा का अभिषेक किया जाना चाहिए। उस समय मुख्य अमात्यों, बेंत धारियों के द्वारा, शंख तथा भेदी के निनाद (आवाज) से तथा व्यक्तियों के द्वारा गान से गीत और बाजों के घोष से ब्राह्मणों के वेदमंत्रों के पाठ के कोलाहल से सभी लोगों को एक साथ राजा का अभिषेक करना चाहिए। उत्तराधिकारी राजा सब औषधियों से युक्त सब प्रकार के गंधों से युक्त तथा रत्न और बीजों से युक्त फल और फूलों से युक्त सामग्री से पूजित होकर के श्वेत सूत्र से अपनी गीवा को आवेष्टित करके, जनेऊ धारण करके, श्वेत वस्त्रों को धारण करें।[1]

इसके पश्चात दूध वाले वृक्षों की लताओं से ढंके हुए, स्वर्ण निर्मित मजबूत और नए कलश को स्वयं पुरापेहित लेकर मंत्रों (जो कि 180) के अवसान होने पर भृगुकुल (विपृवंश) में उत्पन्न व्यक्ति राजा को कलश दें अर्थात राजा का अभिषेक करें।[2]

इसके पश्चात उत्तराधिकारी राजा अपना मुख दर्पण अशवा घी में देखें, पगड़ी तथा श्वेत वस्त्र धारण कर मंगलाचरण करें। विष्णु की पूजा करें तथा ब्राह्मणों की याचना करें। उस समय राजा को वहां पर दोनों ही प्रकार के ब्राह्मणों की याचना (पूजा) करनी चाहिए –जिनमें ब्राह्मण और पुरोहित सम्मिलित है। इसके पश्चात धर्मशील राजा ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता एवं विद्वानों से राजचिन्ह से अंकित पट्टिका ग्रहण करें।[3]

नीककण्ठ भट्ट ने राजचिन्ह से अंकित पट्ट के लक्षणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि जो सब प्रकार के राजकीय चित्रित, अलंकरण धारण करता हो, उसे पट्ट कहते हैं। पट्ट आठ अंगुलज से लेकर 63 अंगुल तक बढ़ा होना चाहिए, पट्ट या तो गोल अथवा चौकोर अथवा बीच में कमल चित्रित आकार वाला हो। पट्ट के मध्य में विष्णु, मछली, सूर्य, स्वास्तिक, गणेश, लक्ष्मी, तुलसी का वृक्ष, वराह या देवी के शुभ चिन्हों से अंकित हो।[4] नीलकण्ठ भट्ट ने

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 5   2. वही   पृष्ठ 5
3. वही   पृष्ठ 5   4. वही   पृष्ठ 5–6

पट्ट में हाथी और बैल के चिन्हों को अंकित होना निषेध बताया है।[1] पट्ट के मध्य के विस्तार के विषय में उनका मत है कि राजा का पांच शिखा वाला, युवराज तथा रानी का तीन शिखा वाला, तथा सेनापति का एक शिखा वाला पट्ट (मुकुट) शुभकारी होता है। प्रसाद पट्ट बिना शिखा वाला बनाना चाहिए।

नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि यदि राजा दीर्घ काल तक दीर्घ जीवन की कामना करता है तो व्याघ्र, सर्प, हाथी, सिंह, घोड़ा, ऊंट, पड्डा (पड़ा) बैल बनेचर, जगचर, कीड़े, दंश, पतंग (पक्षी) आदि को अपने आभूषणों में त्याग करना चाहिए।[2]

मुकुट बंधने के बाद होने वाले कार्यों का उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा कि उत्तराधिकारी राजा के द्वारा मुकुट धारण किए जाने के उपरांत जिस मंच पर आधा विछा (विछौना) हो, उस पर पुरोहित ध्रुवाधौरिति मंत्र के द्वारा राजा को बैठाए। बैल, विल्ली, व्याघ्र का चर्म अस्तरण (बिछौना) हो ऐसे आसन पर जो कि दूसरे द्वीप से आया हो, उस पर बैठे राजा को सबको दिखाना चाहिए। मंत्री सेवक, नगर निवासी, ग्रामीण, व्यापारी तथा अन्य प्रजा क्रमशः राजा के दर्शन करें। उसके बाद पुरोहितों तथा ब्राह्मणों को वस्त्र, आभूषण, घोड़े, स्वर्ण नीति निर्मित वस्तुएं (आभूषण) गाऐं तथा गृहदान राजा के द्वारा किया जाना चाहिए। इसके बाद पुरोहित तथा अपने गुरूकुल के सदस्यों की पूजा होनी चाहिए, ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए, तथा राजा को गाय, वस्त्र, तिल, चांदी, अन्न, फल, सोना, गाय का दूध, लड्डू तथा श्वेत फूल इत्यादि का महादान करना चाहिए।[3]

तत्पश्चात मंगलाचरण करके, वाण युक्त धनुष लेकर, अग्नि की परिकमा करके, गुरूओं को प्रणाम करके, वृषभ तथा बछड़ों से युक्त गायों एवं घोड़ों एवं नाग की अभिषेचित मंत्रों से पूजा करनी चाहिए, इसके बाद राजा घोड़े पर चढ़कर मंत्रियों के साथ राजमार्ग से अपने नगर का भ्रमण करें। राजा अपने मुख्यमंत्री, सेवक तथा पुरोहित आदि के साथ आथी पर बैठकर नगर के

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 6
2. वही वही
3. वही पृष्ठ 6 – 7

देवताओं की पूजा करें। नगर के देवी देवताओं की पूजा करके पूरे नगर की परिक्रमा करें। तथा प्रसन्न होता हुआ वह राजा अपने अन्तः ग्रह में प्रवेश करे। दान मान तथा सत्कार के द्वारा अपनी प्रजा को अपनाऐं। इस प्रकार सबकी पूजा करके सबको विसर्जित करके महान आत्मा वाला राजा अपने घर में ही निवास करे। जो इस प्रकार के विधान से कार्य करता है वह राजा संपूर्ण पृथ्वी को वश में कर लेता है।[1]

गोपथ ब्राह्मण को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में राज्याभिषेक के कृत्यों का उल्लेख इस प्रकार किया है– राज्याभिषेक की आवश्यक सामग्री एकत्रित करके जैसे 16 कलश बेलपत्र के ।[6] फल, बाल्मीक (बामी, दीमकों के ढूह की मिट्टी) की मिट्टी, सभी प्रकार के छॉटे हुए अन्न (जिनकी भूसी निकाल ली गई हो) सभी प्रकार के रस, सभी प्रकार के बीज–अन्न (जिनकी भूसी न निकाली गई हो) सोने, चांदी, तांबे एवं मिट्टी के चार चार कलस रखे जाएं। तथा इन कलसों में किसी गहरे जलाशय (झील, या झरना) से जल लेकर "नामेनाम "[2] मंत्र के साथ जल भर जाए। इन कलसों को बेदिका पर रखकर प्रत्येक में एक एक बेलपत्र डाल दें यह सब कार्य पुरोहित ही करें। वह इन कलसों की भूसी वाले तथा छांटे हुए अन्न डाल दें। सोने के कलस में यह सब डालते हुए पुरोहित अभयैरपराजितैरायुष्य स्वस्त्ययन[3] नामक मंत्रों का उच्चारण करें उसी प्रकार चाँदी के कलसों के साथ संश्राव्य संसिक्तीय मंत्रों[4] का पाठ हो। तांबे के कलसों के साथ भेषज्य एवं अहोंमुंच[5] नामक मंत्रों तथा मिट्टी के कलसों के साथ सोमवेश संवर्ग्या तातीय,[6] नाम मंत्रों तथा अथर्ववेद की प्राण नाम स्तुति का पाठ किया जाए इसके उपरांत पुरोहित श्रौत्रियों (विद्वान, ब्राम्हणों) द्वारा पकड़े गए कलसों के जल से राजा का अभिषेक करें। तब वह (पुरोहित) सिंहासन पर बैठे हुए राजा का अभिषेक इस मंत्र से करें– हे इन्द्र मेरे इस क्षत्रिय की अभिवृद्धि करो। इस प्रकार सिंहासन पर बैठा हुआ राजा आनंद एवं कीर्ति को प्राप्त करता है। प्रमुख पुरोहितों

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 7
2. वही पृष्ठ 7–8
3. वही पृष्ठ 8
4. वही वही
5. वही वही
6. वही वही

के सहायक पुरोहितों को एक सहस्र गाय दान में देता है तथा प्रमुख पुरोहित का एक अच्छा गाँव दान में देता है। इस प्रकार वह राजा विपुल यश की प्राप्ति करता है, इस धरा को भोगता है तथा शत्रुओं का नाश करता है।

यदि पूर्व राजा के मर जाने पर दूसरे (राज्य के उत्तराधिकारी) का अभिषेक किया जाता है तो ज्योतिषी व पुरोहित को नित्य की तरह तिल और सरसों से मिले जल से अभिषेक होने वाले राजा को स्नान कराना चाहिए तथा नए अभिषिक्त राजा के नाम से घोषणा निकाल देनी चाहिए कि उसने उत्तराधिकार संभाल लिया है। पूर्व राजा के आसन के अतिरिक्त अन्य आसन पर नए राजा को बैठा कर मंत्री आदि को चाहिए कि वह उसे जनता को दिखा दें। राजा को प्रजा का सम्मान करना चाहिए तथा जो बन्दी कारागृह में बन्द हों उनको मुक्ति एवं अभय देकर उस आसन पर बैठकर ही राज्य करता हुआ अभिषेक के समय की प्रतीक्षा करें। तथा अभिषेक के समय आने पर उसे अपना अभिषेक कराना चाहिए।[1]

यदि पूर्व राजा जीवित है और उत्तराधिकारी को नया राजा बनाना हो तो उसमें समय की प्रतीक्षा की आवश्यकता नही है। उस समय पुरोहित किसी शुभ दिन में मास पक्ष आदि का उल्लेख करके, किए जाने वाले राज्याभिषेक के अंग के रूप में एन्द्री शांति पाठ कर रहा है ऐसा संकल्प लेकर गणेश पूजन, स्वस्तिवाचन ऋत्विक का वरण, कुण्डल, अंगूठी, वस्त्र आदि के द्वारा ऋत्विक की पूजा करनी चाहिए।[2]

राज्याभिषेक कृत्य के सम्पादन में बेदी के विषय में नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि बेदी कुण्डलात्मक हो, तथा स्थाण्डिल (भूमि पर ऊँचा करके बनाई गई हो) हो। बेदी के पीछे पश्चिम दक्षिण और उत्तर दिशा में छः अंगुल भूमि शेष रहनी चाहिए। उसके बाद ईशान कोण में प्रदक्षिणा कम से बालू भी एक महा बेदी (साम रेखा बनानी चाहिए उसके बाद ऊं बृहस्पते -----देवी देव्युस्तु।)[3] इस मंत्र से उस सामरेखा को तीन बार अभिमंत्रित करें। उसके पश्चात पहले माहबेदी के मध्य भाग में यश्रीधास्ते ....हृहयमर्पिपषम।[4] इस मत्र से भूमि खोदें।

---

1. नीतिमयूख – पृष्ठ 8
2. वही – वही
3. वही – पृष्ठ 9
4. वही – वही

इसके बाद ऊं यत्न उनं.........पप्रथानेति । इस मंत्र से बालू के द्वारा उस वेदी को पूरा कर दें। पुनः कुण्डात्मक हो अथवा स्थण्डलात्मक हो, इस प्रकार बेदी की नाप करके पहले की भांति ही रेखा करके "बृहस्पते परिगृहाणेति"[3] इस मंत्र के द्वारा तीन बार स्पर्श करके पूर्व की भांति अभिमंत्रित करें या स्पर्श करना चाहिए। असंबाधं बध्यतो ....राध्यतांनः[4] इस मंत्र से बेदी के उत्तर में बालू को फैलाएं। यस्याश्रच्तस्त्रः दधात्तिवति[5] इस मंत्र से बालू के द्वारा बेदी को चार गुनी करें। देवस्य त्वा . ...परिगृहामीत्यनेन[6] इस मंत्र से लेखनी गृहण करें। ततः इन्द्र सीता मुत्तरासमामि[7] इस मंत्र से बेदी के पीछे आग्नेय कोण से आरंभ करके, वांयी ओर घूम करके चारों दिशाओं में लिखकर लाइन करके, और फिर आग्नेय कोण से आरंभ करके ईशान कोण तक पूर्व की भांति लिखकर उसके बीच में भी जैसा कि पहले बताया जा चुका है तीन बार लेख करें। बेदी में गेहूं और जौ चुपचाप फैलाकर वेषेण भूमि........श्रिये धामनि[8] इस मंत्र से उसका पुरोक्षण करके, ऊं यस्तामन्नं ....स्वस्त्यो भवेति[9] इस मंत्र से उन गेहूं और जौ को कांसे से आदि के पात्र पर रखी हुई अग्नि के ऊपर डालकर ऊं विश्वंभरा ....द्रविणे नोदधात्वि[10] इस मंत्र के द्वारा उत्तर वाली बेदी में अग्नि की स्थापना करें। ममाग्ने . ..... पृतना जयेमेति।। इस मंत्र से तीन समिधाओं का वहन करें इस प्रकार व्रत ग्रहण करने के उपरांत तेन त्वा ....व्रत पत इति इस मंत्र से समिघा के द्वारा बिना स्वाहा का उच्चारण किए ही अग्नि में हवन करें तथा ईशान भाग में सोने चांदी, अथवा तांबे के जलपूर्ण कलश में जिसमें चन्दन, सर्वोषधि, दूध, पच्चपल्लव, पच्चछाल, पच्चगव्य, पंचामृत, सात मिट्टियां, फूल, फल, रत्न, सुवर्ण तथा वस्त्र से युक्त कलश के ऊपर रखे हुए चावलों (अक्षितों) पर स्थापित करके उसके ऊ सके पर तथा अग्नि कुण्ड के सामने ही गोमर्च के बराबर गोवर लीपकर और उसको लाल वस्त्र से ढंककर उसके ऊपर अष्ट दल

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 9
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 9
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 9
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 9
5 नीतिमयूख : पृष्ठ 9
6. नीतिमयूख : पृष्ठ 9
7 नीतिमयूख : पृष्ठ 9
8. नीतिमयूख : पृष्ठ 9
9. नीतिमयूख : पृष्ठ 9
10. नीतिमयूख : पृष्ठ 9
11. नीतिमयूख : पृष्ठ 9

कमल बनाकर, अथवा एक तोला, आधा तोला, अथवा आधे से आधा तोला, सोने से बनी हुई इन्द्र की मूर्ति की स्थापना करें। और मंत्रोपचार से उसकी पूजा करनी चाहिए। इमाद्रय[1], इस मंत्र से उस मूर्ति को स्नान कराएं। मधुपर्क, कुण्डल, अंगूठी आदि आभूषण तथा छत्र, चंवर, ध्वज, पताका आदि अर्पित करनी चाहिए। त्रातारमिन्द्रमिति[2] इस मंत्र के द्वारा पुष्पांजलि दें। उसके बाद चुपचाप अथवा अर्धमौन होकर पवित्र रूप से विष्णोर्मनसा पूतमसीति[3], पवित्राभ्यामि ....पुतमसीमिति,[4] देवस्तवा ....पुनामीति,[5] अग्नेय त्वा जुष्टं .... देवातासु[6] इन पांच मंत्रों से आहूति दें। उसके बाद त्वं भमिमन्वेष्योजसा ....पुतमसीति दुरितान्यस्मिन्निति[7] इस मंत्र के द्वारा पुरोहित राजा को पवित्र करें उसके बाद ऋषीणां प्रस्तरोसि.................प्रस्तरायेति इस मंत्र से दक्षिण की ओर ब्रह्मा के लिए आसन रखें। अस्मिन्कर्मणि ....तवां वृणीमहे।[9] इस मंत्र से उद्देशित करके यज्ञकर्ता इस मंत्र को पढ़ें। अहं भूपतिरहं ....स्वर्ज्जनदो[10] इस मंत्र से ब्रह्मा का जाप करें। ऊं अहैदधि..... पाकतरइति[11] इस मत्र के द्वारा ब्रह्मा का आसन पर ध्यान करें ऊं निरस्तः ....वयं द्विष्मः[12] इस मंत्र से ब्रह्मा सन के दक्षिण में तृण रखे, तथा आसन पर इस मंत्र का जाप करें। इदमहमर्वावसोः ....निषीदेवभूमे।[13] जो (अर्थात राजा) ब्रह्मा के आश्रम बैठा हैं वह इस मंत्र का जाप करें। ब्रहस्पति .. ..समीक्षतम्[14]। इस मंत्र से हवनकर्ता हवन की सामग्री मुट्ठी में लेकर तीन बार आग्नेय कोण में, तीन बार दक्षिण दिशा में, तीन बार पश्चिम दिशा में तथा तीन बार उत्तर दिशा से ईशान की तरफ, तथा जिस ओर जाप हो रहा हो उधर से, दक्षिण से उत्तर की ओर बिखरे। ब्रह्मा चोपरि

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 10
2. वही वही
3. वही वही
4. वही वही
5. वही वही
6. वही वही
7. वही वही
8. नीतिमयूख : पृष्ठ 10
9. वही वही
10. वही वही
11. वही वही
12. वही वही
13. वही वही
14. वही वही

......................परिस्तृणामि। इस मंत्र को पढ़कर आग्नेय कोण से ईशान कोण पर्यन्त्र तीन पंक्तियों में कुशों के अग्र भाग को ढकते हुए उत्तर की ओर तो कुश बिछाकर निर्ऋतिकोणा से प्रारंभ कर पूर्व की भांति इन तीन पंक्तियों में पश्चिम तक, उसी प्रकार नैऋत्व कोण से प्रारंभ कर वायव्यकौण तक, वायव्य कोण से प्रारंभ कर ईशान कोण पर्यन्त तक कुश फैलाकर पहले ईशान की ओर से कुश के जो अग्र भाग हैं। उनको ईशान कोण पर फैले हुए अन्य कुश के भागों से नीचे रखना चाहिए। हविषा त्वा जुष्टम[2] इस मंत्र से फैले हुए कुशों को उठाएं। आगे हवनकर्ता फैले हुए कुशों के बीच के कुश लेकर उनको अपने आसन पर बिछाकर अहेदेधिष्य[3] इस मंत्र से अपने आसन पर उनको देखे। निरस्त[4] इस मंत्र से उन तृणों को अलग अलग करें और पुनः आसन पर बैठकर इदम[5] आदि मंत्र का जाप करें, बैठकर ही वृहस्पतिब्रहमाइत्यादि[6] का जाप करें। पत्विाग्ने........सवितुः सब[7] इस मंत्र से एक पानी का पात्र अग्नि से उत्तर की ओर स्थापित करें और उसमें पवित्री डालकर ऊं इहेतदेव ....श्रियमावहन्तु[8] इस मंत्र से उदक पात्र में पानी डालें। बिलीनपूत ....भ्रंगुरावतः[9] इस मंत्र से तीन बार अग्नि में घुमाकर तथा पानी को अग्नि से स्पर्श कराते हुए अग्नि को भी जल से पवित्र करें। उसके बाद तीन कुशों से सुवा (हवन करने की चम्मच या पात्र) का सम्मार्जन करें। निष्टप्तं ....अरातयः[10] इस मंत्र से सुवा को अग्नि में तपाएं। ऊं विष्णोइस्तोसि ....दैव्येनेति।[11] इस मंत्र से युवाको अभिमंत्रित करें। उसके बाद शुद्ध किए गए घी को अपने बाएं भाग में तथा अग्नि के पीछे रखे गए आजयरथाली (आज्याधानी) नामक पात्र में सुवा के द्वारा करना चाहिए। ऊं भूः शं...................परिमितपोषायोति चतुर्थम[12] इस मंत्र से प्रथम द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ वार सुवा से उसी घी के द्वारा

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 11
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 12
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 12
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 12
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 12
6. नीतिमयूख : पृष्ठ 12
7. नीति मयूखः पृष्ठ 12
8. वही वही
9. वही वही
10. वही वही
11. वही वही
12. वही वही

हवन करें........ अग्नावग्नि...........त्वमग्नये स्वाहा।[1] इस मंत्र से उत्तर पूर्वार्द्ध में तथा दक्षिण पूर्वार्द्ध में हवन करें। ऊँ त्व सोमदिव्यो.........स्वाहा[2] आदि मंत्र दक्षिण पूर्वार्द्ध के लिए बताए गए हैं।

इसके पश्चात निम्नलिखित मंत्रों से अभिषिक्त राजा प्रायश्चित आहुति करें.......अथ आहूत्ये स्वाहा.........ऊँ भूर्भव स्वाहेति प्रतिप्रायश्चित होमः[3] आदि मंत्रों से राजा प्रायश्चित होम करें। यन्मेस्कन्नमनसो ....कामाः स्वाहेति[4] इस मंत्र से राजा स्कन्न होम करें। यदस्मृति ....त्वमस्तुतः स्वाहाः[5] इस मंत्र से यद्स्मृति होम करें। यद्वद्य त्वा.......गातुमित स्वाहा।[6] इन सात मंत्रों से संस्थित होम करें। समनस्पत. ....बातेधा स्वाहे[7] इन पांच मंत्रों से पांच आहुति देकर आज्यस्थाली से श्रेष्ठ घी को चार बार श्रुवा से लेकर आज्य धानी में स्थापित करके श्रुवा से एक बार चुपचाप हवन करें। आगे उसी कम से हाथ उठाकर आज्यधानी तिगुनी घी में भिगोएं। पृथित्य[8] इस मंत्र के द्वारा उसके (आज्यधानी के) मूल भाग को भिगोकर अन्तरिक्षाय त्वेति इस मंत्र के द्वारा मध्य भाग को भिगोकर द्विवेत्वा इस मंत्र से अग्र भाग को भिगोकर इसी प्रकार तीन बार करके ऊँ संवहिंरक्तं ....वर्हि वार्हि स्वाहा[11] इस मंत्र से बर्हि होम करें। संस्त्राव भाग होम ....मादयन्तां स्वाहा[12] इस मंत्र से संस्राव भाग होम करें। सुत्रोवोसीति[13] इस मंच से सुस्त्रवा के दंड भाग को पकड़ें तथा चन्दन, पुष्प, दीप धूप नवैध ताम्बूल, दक्षिणा आदि के द्वारा उसकी पूजा करें। त्रातारमिन्द्रेति[14] इस मंत्र के द्वारा पुष्पा –

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ	12–13	8–नीति मयूखः पृष्ठ 12	
2. वही	पृष्ठ 13	9. वही	वही
3. वही	पृष्ठ 13–14	10. वही	वही
4. वही	पृष्ठ 14	11. वही	वही
5. वही	वही	12. वही	वही
6. वही	पृष्ठ 14–15	13. वही	वही
7. वही	पृष्ठ 15	14. वही	वही

अंजली दे। इसके पश्चात अग्नि के चारों ओर सभी दिशाओं में उर्द तथा भात तथा दीपक के साथ दिकपालो को बली दे। तथा निम्न मंत्र का पाठ करें.....त्रातारमिन्द्रमिति ....ईशाना त्वा ईशाने[1] इसके बाद सिंदूर, लाल पुष्प, दीपक और दक्षिणा के साथ निम्न मंत्र से क्षेत्रपाल को बली दें ....क्षेत्रियात्व ....परिवारयुताए ।[2] इस मंत्र से उस बली को शुद्र दुब्राह्मण, अथवा चौराहे पर स्थापित करें। उसके पश्चात हाथ पैर धोकर, आचमन करके, एन्द्र शान्ति के पश्चात पूर्णता सिद्धि के लिए पूर्णाहुति होम कर रहा हूं, ऐसा संकल्प करके तथा स्वेच्छानुसार घी के 12 भाग करके चार वस्त्र नारियल, तथा चन्दन से युक्त करके, तथा उसके लेकर इस मंत्र से "अभिभूयज्ञ"[3] इस मंत्र से राजाओं के द्वारा प्रारंभ किए गए यज्ञ के शेष कार्य को आचार्य सम्पादित करें। इसके बाद विमुच्चांमीत्यादि[4] मंत्र से तीन बार होम करें। तेजोसीति मुखं.......वरूणश्य च ब्रह्मणा[5] मंत्र के द्वारा जिस पात्र पर ब्रह्ममा स्थापित किए गए हैं, उनको उत्थापित (उठाएं) करें। तथा दूसरे हाथ से अग्नि के पास रखे हुए जल पात्र को लेकर ऊपर की ओर आपोहिष्ठामयो भुव[6] मंत्र से मार्जन करके उसी जल से एक अंजलि जल अग्निकुंड में छोड़ें। समुद्रं वः ....भूयासामिति के मंत्र के द्वारा उसी जल से मुख मार्जर करें। व्रतानि व्रत पत इति[8] मंत्र के द्वारा अग्नि कुंड में समिधा डालें। सत्यंत्वर्त्तेनेति ....वसयति[9] मंत्र के द्वारा पूर्ण पात्र और दक्षिणा का दान करें। ब्रह्मोत्थापनम् ....वामभगे।[10] इस मंत्र के द्वारा ब्रह्ममा को नमस्कार करें उसके बाद कलश के जल से और शांति के जल से दुर्वा घ्रास से आचार्य के साथ पूर्व की ओर मुख करके तथा सामाने मुंह किए हुए कुटुम्ब सहित राजा का अभिषेक करना चाहिए। अभिषेक के समय पतनी को वाम भाग में बैठाना चाहिए पवित्रं गतधारं..............हिरण्यवर्णाः[11]। मंत्र के द्वारा अभिषेक करने के बाद सर्वोषधि तथा शुद्धोदक से स्नान करके, वस्त्र पहन करके, पत्नी के साथ श्वेत वस्त्र धारण किए हुए, यजमान आचार्य आदि की पूजा करके उनको दक्षिणा देनी चाहिए। ब्राह्मणों

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 15
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 15
3. वही वही
4. वही वही
5. वही पृष्ठ 15–16
6. वही पृष्ठ 16
7. : नीतिमयूख : पृष्ठ 16
8. वही वही
9. वही वही
10. वही वही
11. वही वही

को दस गाएं दान में देनी चाहिए। अथवा बैल हो तो इससे अधिक दिए जा सकते हैं। यदि वह वैश्य हो तो घोड़ों को दान करें। यदि राजा हो तो राजत्व की भांति उसे श्रेष्ठ ग्राम प्रदान करें। इस प्रकार कही गई दक्षिणा को देने से ही संपूर्ण फल प्राप्त होता है। अद्येत्यादि[1] समय का उच्चारण करते हुए एन्द्र शान्ति नामक कर्म की प्रतिष्ठा सिद्धि के लिए ।। गाएं, अमुक गोत्र के ब्राह्मण के लिए दे रहा हूं ऐसा संकल्प करें। इसी प्रकार बैल ग्राम भूमि हाथी, घोड़ा, रथ आदि देने चाहिए, उसके बाद स्थापित देवी देवताओं को पूजन व नमस्कार करना चाहिए। आवाहनं न जानामि.........देवगणा इति[2] मंत्र के द्वारा स्थापित देवताओं को विसर्जित करके स्थापित प्रतिमा तथा उस पर समर्पित सभी आभूषण इत्यादि आचार्य को देकर तथा अग्नि पूजा करके गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठेति[3] मंत्र के द्वारा देवीदेवताओं को विसर्जित करके यथा शक्ति ब्राह्मणों को भोजन कराके चतुर्भिश्च ....विष्णु प्रसीदतु[4] मंत्र को पढ़ें। नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में एन्द्र शान्ति का प्रयोग इसी प्रकार बताया है।

इस विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने पुनः कहा है कि अभिषेक के दिन नित्य (दिन प्रतिदिन) क्रियाएँ सम्पन्न करके अभिषिक्त राता पूर्व की ओर मुंह करके आसन पर बैठकर इष्ट देवता का ध्यान करके नमस्कार करें। मास और पक्ष के उल्लेख के सहित संपूर्ण, संपूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने का इच्छुक मैं आचार्य और पुरोहित के साथ अपना अभिषेक करा रहा हूं का संकल्प लेकर गणेश पूजन, स्वास्ति वाचन, मातृ का पूजन, वशेर्धरा की पूजा तथा अभ्युदय श्राद्धों को करके आचार्य और पुरोहितों जो कि बड़े और यजुर्वेद के जानने वाले हों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, अमात्य में से एक एक और ब्राह्मण मंत्री में से एक, इसके अतिरिक्त एक भेद जानने वाले का वरण करके मधुपर्क कुण्डल केयूर, कटक, कण्ठाभरण, अंगूठी तथा वस्त्रादि से उसकी पूजा करके चारों वर्णो के मुख्य व्यक्तियों को वहां बैठाएं।[5]

इस प्रकार एक दिन पूर्व से उपवास किया पुरोहित श्वेत वस्त्र धारण करके चन्दन

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 16
2. वही वही
3. वही वही
4. वही वही
5. वही पृष्ठ 16–17

लगााकर, पगड़ी धारण करके, यज्ञ स्थान की परिकल्पना करके, उसके पश्चात बन्धनवार तथा केले के स्तंभों से सजी हुई स्नान शाला में गेहूं अथवा जौ से पूर्ण सोने के नौ कलश विधि पूर्वक स्थापित करके यथासंभव अनेक तीर्थों के जल से पूर्ण करके, सर्वोषधि सर्वगन्ध, सर्वरत्न, सर्ववीज, फल, दूध वाले वृक्ष अथवा दूध वाली लताओं, पल्लवों को उनमें डालकर बहुत से श्वेत वस्त्रों और मालाओं से उनको लपेट कर उसके पास एक पंच्चगव्य से युक्त मिट्टी का घड़ा, घी से भरा हुआ सोने का घड़ा दूध से भरा हुआ चांदी का घड़ा तथा दही से भरा हुआ तांबे का, तथा शहद से भरा हुआ मिट्टी का, कुश जल से भरा हुआ मिट्टी का और सौ छेदों वाला सोने का तथा नदी, तालाब, कुआं और चारों समुद्रों के जल से पूर्ण मिट्टी के घड़ों को यथासंभव स्थापित करें। और इन कलशों की ऊँचाई 16 अंगुल, चौड़ाई 25 अंगुल सूक्त लपटने योग्य होनी चाहिए। उसके बाद पुरोहित यज्ञ स्थान में एन्द्र शान्ति प्रयोग में लिखित प्रकार से अग्नि स्थापना आदि करके 17 (सत्रह) आहुति देने वाला हवन करके, तथा उसके संपूर्ण अंगों को पूज करके शर्म, वर्म..............................राज्यं जुहुयात[1] मंत्र के द्वारा हवन करें। ते चवणा वक्ष्यन्ते[2] मंत्र से होम स्थान पर रखे हुए कलशों पर पुष्प, घोड़े, श्वेत, चन्दन वस्त्र और अलंकारों से युक्त होकर राजा अग्नि से दक्षिण की ओर बैठकर आचार्य आदि ज्योतिषियों तथा पुरोहितों के द्वारा हवन की जाती हुई अग्नि की निमित्त को देखें। यह निमित्त प्रमाण निर्णय में कह गए हैं। इस प्रकार पुरोहित प्रधान होम को समाप्त करके एन्द्र शान्त में बताए गए प्रकार से ही 17 आहुति वाले अभ्यातान होम के ब्रह्म आदि का उत्थापन करके नमस्कार करके तथा उसके संपूर्ण अंगों को पूरा करके सुगन्धित तेल आदि से स्वेच्छा पूर्वक स्नान करके स्नानशाला में लाकर, आसन पर बैठाकर, मिट्टी से स्नान कराने चाहिए।[3]

नीलकण्ठ का मत है कि सहस्र शीर्षा[4] मंत्र से पर्वत के अग्र भाग की मिट्टी से सिर को, अक्षीभ्यां[5] मंत्र से वामी की मिट्टी से कानों को, बेलपत्र के स्थान की मिट्टी से उपरोक्त मंत्र से ही मुख को ग्रीवाभ्यस्त[6] मंत्र से ही इन्द्र ध्वज के स्थान की मिट्टी के द्वारा गले को

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 17
2. वही वही
3. वही वही
4. वही वही
5. वही वही
6. वही वही

आन्त्रेय इति[1] इस मंत्र के द्वारा राजा के महल के आंगन की मिट्टी से हृदय को 'यस्य विश्वानि[2] मंत्र से हाथी के दांत द्वारा उखाड़ी गई मिट्टी से दाहिनी ओर वायी भुजा को बव्हीनां पितेति[3] मंत्र से तालाब की मिट्टी से पीठ को "नाभानाभि"[4] इस मंत्र से जहां दो नदियों का संगम हो उस स्थान की मिट्टी से पेट को " आतेसिंच्वामिति "[5] मंत्र से नदी के दोनों किनारों से ली गई मिट्टी के द्वारा दोनों कन्धों को, "सोमानं स्वरणामिति"[6] मंत्र से वेश्या के द्वार की मिट्टी के द्वारा कमर को, "उरूम्भां त इति"[7] मंत्र के द्वारा हाथी के बांधने के स्थान की मिट्टी से दोनों कूल्हों को, "मेहनादूलामीति"[8] इस मंत्र के द्वारा जहां भेड़ निवास करती हो, उस स्थान की मिट्टी से घुटनों को, इसी मंत्र से अश्वस्थान की मिट्टी को जंघों को, "एतावानस्य"[9] इस मंत्र के द्वारा रथ के पहियों से उठी हुई मिट्टी के द्वारा पैरों को, अंगाद आदिति"[10] इस मंत्र के द्वारा सब प्रकार की मिट्टी से सब अंगों को स्नान कराएं। उसके बाद स्थापित किए हुए पंच्चगव्य से युक्त जलकुम्भ से स्नान कराना चाहिए, उसके लिए मंत्र है– गन्धद्वारां, आप्यायस्व, दधिकाव्यणः तजोसि शुकं आपोहिष्ठेत्याद्याच्श्र इत्यादि"[11] उसके बाद राजा को उस आसन को छोड़कर अच्छे (भद्र) आसन पर बैठना चाहिए। भद्र (अच्छे) आसन से तात्पर्य है– स्वर्ण निर्मित, चांदी निर्मित, तांबे निर्मित,

भद्र (अच्छे) आसन से तात्पर्य है– स्वर्ण निर्मित, चांदी निर्मित, तांबे से निर्मित या दूध वाले, वृक्ष की लकड़ी से बना हो, व गोलाई में बना हुआ हो, उसकी ऊंचाई और चौड़ाई कम से कम डेढ़ हाथ हो यदि वह रत्न जटित हो तब भी उसकी ऊंचाई राजा के हाथ से डेढ़ हाथ हो।[12] इसके पश्चात विप्रमात्यतेजोसी ति[13] मंत्र से पहले स्थापित किए गए घी से भरे हुए सोने के घड़े से पश्चिम दिशा में बैठे हुए राजा का अभिषेक करना चाहिए। क्षत्रियमात्म[14] मंत्र के द्वारा दूध से भरे

---

1. नीति मयूख पृष्ठ 17
2. वही वही
3. वही वही
4. वही वही
5. वही वही
6. वही वही
7. वही वही
8. नीतिमयूख : पृष्ठ 17
9. वही वही
10. वही वही
11. नीतिमयूखः पृष्ठ 17–18
12. वही वही
13. वही वही
14. वही वही

हुए चांदी के कलश से दक्षिण की ओर बैठकर राजा का अभिषेक करना चाहिए। वैश्यामात्य[1] मंत्र से दही से भरे हुए तांबे के कलश के द्वारा पश्चिम की ओर बैठकर राजा का अभिषेक करना चाहिए। छन्दोगामात्यो मंत्र[2] से शहद से भरे हुये मिट्टी के घड़े से उत्तर की ओर बैठकर राजा का अभिषेक करना चाहिए स एव देवस्यत्वेति[3] मंत्र से कुशोदक से भरे हुए मिट्टी के घड़े से वही बैठकर अभिषेक करना चाहिए। उसके बाद पुरोहित अग्नि रक्षाध्वमिति''[4] मंत्र के द्वारा यज्ञकर्ता सदस्यों को भेजकर पहले से स्थापित उपरोक्त वस्तुओं से युक्त सोने के कलशों से राजसूय अभिषेकीय मंत्रों से राजा का अभिषेक कराएं। ते च यजुषास्तावत् ....भू भुर्व स्व[5] इन वाहृतियों को बोलकर, इसी प्रकार अन्य शाखाओं को भी जानना चाहिए। उसके पश्चात पुरोहित को अग्नि के पास जाना चाहिए उसके बाद वेद और शास्त्रों को जानने वाले अन्य ब्राह्मण के द्वारा भद्रासन पर बैठे हुए राजा का सौ छेद वाले सोने के कुंभ के द्वारा अभिषेक कराना चाहिए। इसके पश्चात 'या औषधीरिति''[6] मंत्र के द्वारा सब औषधियों को जल में छोड़ना चाहिए। रथे तिष्ठेति[7] इस मंत्र से गंध से पूर्ण जल के द्वारा आब्रहमन ब्राहमणेति[8] इस मंत्र से बीजों के द्वारा, पुष्पवतीइति[9] मंत्र से फूलों के द्वारा, और इसी मंत्र से अनेक फलों के द्वारा, आशु: शिशान[10] मंत्र से रत्नों से, ये देवा[11] मंत्र से कुशोदक से पूजन करें। मधुपर्क वस्त्र और अलंकारों के द्वारा आचार्य और पुरोहित का पूजन करें। तब ज्योतिषी के द्वारा पहले बताए गए लक्षण के द्वारा राजा के मस्तक पर पट्ट और ललाट पर मुकुट बांधना चाहिए।

उसके बाद पुरोहित राजा को शुभ लग्न में कम से वृष (बैल) माजरि (बिल्ली), रिच्छ (रीछ) सिंह, व्याघ्र आदि के चर्म से तथा बहुमूल्य वस्त्रों से आच्छादित (सुशोभित) मंच पर बैठाना चाहिए, उसके बाद द्वारपाल के द्वारा वहां पर बैठे हुए राजा के मंत्रियों व नगर निवासियों, वैश्यों (व्यापारियों), और प्रजा को कम से दर्शन कराने चाहिए। राजा को अपना अभिषेक करने वाले ज्योतिषी, पुरोहित और ब्राह्मणों का ग्राम, वस्त्र, हाथी, घोड़ा, स्वर्ण, गाय आदि से दान करते हुए

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 18
2. वही वही
3. वही वही
4. वही वही
5. वही वही
6. वही वही
7. वही वही
8. वही वही
9. वही वही
10. वही वही
11. वही वही

पूजन करके, तथा गोरस और मोदक (लड्डू) आदि का भोजन कराके गाय, वस्त्र, तिल, अन्न, फल, स्वर्ण, फल, भूमि आदि उनको देकर, चंदन, केशर आदि से अलंकृत करके दही दुर्वा आदि मंगल द्रव्यों को लेकर तथा हाथ में धनुष वाण धारण करके, अग्नि की परिक्रमा करके, गुरू इत्यादि बड़ों को नमस्कार करके सॉड़ एवं बछड़े वाली गाय का पृष्ठ देश (पीछे से) स्पर्श करना चाहिए। उसके बाद पुरोहित श्रेष्ठ लक्षणों वाले घोड़ा एवं हाथी को वहां लाकर के उन दोनों को सर्वोषाधि के कलश से मंत्रों के द्वारा स्नान कराकर ताकि वस्त्रों का पर्याण (पलंचा) रखकर सोने और चांदी के अलंकारों से उनको अलंकृत करके, उनको राजा के सामने लाकर मंत्रों से अभिमंत्रित करें।[2] अश्व शांति के लिए निम्न मंत्र है – जयाश्रव त्वं.......देवः सर्वेरश्रन्तु सर्वत इति।[3] उसके बाद हाथी को भी राजा के सामने लाकर उसके दाहिने कान देवज्ञं (ज्योतिषी) निम्न मंत्र को पढ़ते हुए राजा को उस पर बैठाएं। हाथी की शांति के लिए निम्न मंत्र है– श्री गजसवं – ते रक्ष राजानमहावे इति[4] उसके बाद राजा उस हाथी के ऊपर बैठकर के हाथी पर बैठे ही मुख्यमंत्री, सामन्त, आचार्य और पुरोहित आदि के साथ महान पथ से अपने नगर का परिभ्रमण करके देवमंदिरों में जाकर यथा शक्ति देवताओं की पूजा करके हाथी पर बैठा हुआ ही उन मंत्री आदि के साथ घर आकर हाथी से उतर कर, मंत्री आदि के साथ घर के भीतर प्रवेश करके तभा सभी को तथा प्रजा के अन्य लोगों को भी यथाशक्ति दान, मान, सत्कार और प्रियवाणी के द्वारा करोड़ लाख अथवा अन्य कोई संख्या से युक्त ब्राह्मणों को भोजन कराके, दीनों और अनाथों को बहुत सी दक्षिणा देकर के उनसे कल्याणकारी आशीर्वाद प्राप्त करके सबको विसर्जित करके, अपने मित्र आदि के साथ प्रसन्न मन से स्वयं भी भोजन करें। इस प्रकार मीसांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने अपने राजनैतिक ग्रंथ नीतिमयूख में राज्याभिषेक का सविस्तार वर्णन कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।

राजा के अभिषेक का समय (काल) –

नीलकण्ठ भट्ट ने अभिषेक के समय का वर्णन करते हुए कहा है कि राजा का अभिषेक चैत्र मास में, अधिक मास (लौंघ) में तथा विशेष रूप से जिस समय

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 18
2. वही वही
3. वही वही
4. वही वही

ब्राह्मण (तीर्थ यात्री आदि) अपनी यात्रा को स्थगित करते हैं अर्थात वर्षा ऋतु में, और जिस समय भगवान विष्णु शयन में रहते हैं (अर्थात देव शयन काल –अषाढ़ एकादशी से लेकर के कॉतिक एकादशी देवोत्थान तक) उस समय राजा का अभिषेक नहीं करना चाहिए।[1] अभिषेक के विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने पुनः कहा है कि मंगलवार के दिन तथा चतुर्थी (चौथ, नौमी व चतुर्दशी आदि इन रिक्ता तिथियों में राजा का अभिषेक नहीं करना चाहिए)।[2]

नीलकण्ठ का मत है कि राजा चाहे वैष्णव हो, चाहे शाक्त हो, यदि निश्चित रूप से उसका अभिषेक पुष्य नक्षत्र में किया जाता है तो वह सफल राजा होता हैं। उक्त वैष्णव –स्वर्ण नक्षत्र, शाक्त – ज्येष्ठा नक्षत्र और दाश्र – अश्विनी नक्षत्र भी राजा के अभिषेक के लिए उत्तम कहे गए हैं। [3]

राजा की शिक्षा -

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा की शिक्षा को बहुत महत्व देते हुए उसकी विवेचना की है। क्योंकि राजपद को प्राप्त करने, एवं उसे बनाए रखने के लिए राजा में कतिपय विशिष्ट गुण तो आवश्यक है ही, साथ ही साथ बुद्धि, विवेक की वृद्धि के लिए विद्या का होना भी आवश्यक है। अतः राजा के लिए सुशिक्षित होना भी नितान्त आवश्यक था इसलिए अशिक्षित राजा की अपेक्षा शिक्षित नेत्रहीन राजा को श्रेष्ठ कहा है।

किसी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को विद्या कहते हैं। इस भूजगत में विद्याएं भी अनेक हैं। अतः प्राचीन काल में राजा के लिए शैक्षणिक विषय आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति थे। मनु[4] एवं कौटिल्य[5] तथा इन दोनों आचार्यों के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों[6] (जैसे–अग्निपुराण, शांतिपर्व, याज्ञवल्क्य स्मृति कामन्दक नीति, शुक्रनीति तथा दशकुमार चरित) ने भी राजा के अध्ययन हेतु इन्ही चार विद्याओं को निरूपण किया है।

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ :2
2. वही वही
3. वही वही
4. मनुः 7/43
5. कौटिल्य : 1/15
6. अग्निपुराण : 238/8, शान्तिपूर्व : 59/33
   याज्ञवल्क्य : 1/311, कामन्दक : 2/2
   शुक्रनीति : 1/152, दशकुमार चरितः (8)

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने भी अपने पूर्ववर्ती प्रणेताओं की प्राचीन परम्परा के अनुसार चार विद्याएं स्वीकार की हैं। ये चार विद्याएं – आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और सनातन की दण्डनीति है।[1] नीलकण्ठ का मत है कि देहधारियों के योग क्षेम के निमित्त ये चारों विद्याएं परम आवश्यक हैं। आन्वीक्षिकी से आत्मा का बोध होता है। त्रयी विद्या में धर्म अधर्म की व्यवस्था है, वार्ता से अर्थ का ज्ञान, दण्डनीति में नीति अनीति स्थित है।[2]

(1) आन्वीक्षिकी – कामन्दकीय वचनों को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि आत्म विद्या ही आन्वीक्षिकी विद्या है जिस कर्म के करने पर मनुष्य को सुख तथा जिस कर्म के करने से मनुष्य को दुख होता है, का बोध कराने के कारण ही आन्वीक्षिकी आत्म विद्या कहलाती है। आन्वीक्षिकी के द्वारा ही मनुष्य को तत्व ज्ञान होता है। और प्राणी हर्ष शोक से मुक्त हो जाता है।[3]

आचार्य कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी विद्या को समस्त विद्याओं का प्रतीक, सभी कार्यों का साधन भूत एवं समस्त धर्मों की आश्रया स्वरूपा कहा है अतः एव सर्वप्रथम वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं तार्किक शक्ति के उदय के लिए आन्वीक्षिकी विद्या का ज्ञान राजा का होना आवश्यक कहा है।[4]

(2) त्रयी – नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि धर्म और अधर्म का बोध कराने वाली त्रयी विद्या कहलाती है। ऋग्ज्ञ, यजु, साम, इन तीन बेदों द्वारा प्रतिपादित विषयों (ज्ञान, कर्म और उपासना, का सम्यक बोध कराने वाली विद्या को त्रयी की संज्ञा दी गई है) त्रयी विद्या में स्थित होने से मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों में सुख और आनंद भोगता है। चार वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष, मीमांसा, न्याय विस्तार और पुराण यह सब त्रयी विद्या है। इस प्रकार नीलकण्ठ भट्ट ने बेद विद्या को त्रयी बतलाया है।[5]

कौटिल्य का मत है कि साम, ऋक, तथा यजु तीन बेद रूप त्रयी का एवं इसके साथ ही साथ अथर्ववेद, इतिहास, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष, इन छः वेदागों का अध्ययन करना राजा के लिए आवश्यक है। क्योंकि त्रयी में वर्ण धर्म और आश्रम धर्म का निरूपण होने से तद्विषयक ज्ञान के लिए त्रयी का अध्ययन करना आवश्यक कहा गया है। जब तक राजा वर्ण धर्म एवं

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 45
2. वही वही
3. वही वही
4. कौटिल्य अर्थशास्त्र : वार्ता 10 अ. 2 अधि.।
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 45

आश्रम धर्म से अवगत नहीं होगा, वह अपनी प्रजा को वर्ण धर्म में प्रवृत्त सही नहीं कर सकेगा। इसलिए त्रयी, विद्या का अध्ययन राजा एवं प्रजा को धर्म, कर्म, प्रवर्तन द्वारा सुखी बनाता है।[1]

(3) वार्ता : नीलकण्ठ भट्ट ने पशुपालन कृषि और व्यापार आदि व्यवसायों के यथार्थ ज्ञान को वार्ता की संज्ञा दी है। नीलकण्ठ का मत है कि वार्ता विद्या का ज्ञान प्राप्त कर जो पुरूष अपने अनुकूल व्यवसाय से आजीविका चलाता है। वह कभी वृत्तिभय को प्राप्त नहीं होता। इसलिए मनुष्य के लिए अपनी परिस्थिति योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुकूल वृत्ति धारण करने के निमित्त वार्ता विद्या का सम्यक ज्ञान परमावश्यक है।[2]

कौटिल्य ने वार्ता में कृषि, पशुपालन एवं व्यापार संबंधी विषयों का समावेश किया है। वार्ता विद्या द्वारा कृषि पशुपालन, व्यापार आदि के लए धनादि संग्रह, हिरण्य, ताम्रादि, खनिज संग्रह एवं भृत्य विषयक ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसी विद्या के ज्ञान से उपार्जित कोश एवं सैन्य बल से राजा स्वपक्ष एवं परपक्ष को वशीभूत करने के समर्थ होता है। अतः एवं देश की आर्थिक उन्नति एवं सुरक्षा के लिए वार्ता विषयक ज्ञान राजा के लिए अनिवार्य है।[3]

(4) दण्डनीति – नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि दण्डनीति के आश्रित ही जगत की स्थिति है। दम का नाम ही दण्ड है। यह दण्ड राजा में स्थित होता है। दण्ड के सम्यक् प्रयोग की नीति को दण्डनीति कहते हैं। दण्डनीति से ही नय और अनय का बोध होता है।[4]

कामन्दक का मत है कि दण्डनीति विद्या द्वारा नीति, अनीति एवं अर्थशास्त्र का ज्ञान होता है। दण्ड (शासन) को प्रतिपादित करने वाली नीति ही दण्डनीति है। दण्डनीति पर ही अन्वीक्षिकी त्रयी एवं वार्ता को निर्भर बताया गया है। दण्डनीति द्वारा ही अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति प्राप्त वस्तुओं की रक्षा, रक्षित वस्तुओं की वृद्धि एवं संवर्द्धित वस्तुओं की समुचित कार्यो में नियुक्ति संभव है। दण्डनीति पर ही संसार की समस्त लोक यात्रा निर्भर है। इसलिए लोक (संसार) को समुचित मार्ग पर प्रवृत्त करने की इच्छा वाले राजा को दण्डनीति का ज्ञान एवं समुचित प्रयोग भी आवश्यक है।

---

1. कौ. अर्थ. : वार्ता 4, अ. 3, अधि.।
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 45
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 45
4. को. अर्थ. : वार्ता 2 अ. 4, अधि।

कठोर दण्ड के प्रयोग से प्रजा पीड़ित होती है एवं मृत्यु दण्ड के प्रयोग से प्रजा की राजा की अवहेलना करती है। दण्ड के सम्यक प्रयोग के अभाव में मत्स्य न्याय प्रचलित हो जाता है। इसलिए समुचित दण्ड का प्रयोग ही सार्थक कहा जा सकता है।

अभिषिक्त राजा का प्रजा पालन धर्म –

प्राचीन भारत में धर्म सूत्रकारों ने आदर्श भारतीय समाज की परिकल्पना की थी। जिसे वर्णाश्रम धर्म के नाम से जाना जाता था। इस वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के लिए पृथक पृथक कर्तव्य तालिका प्रस्तुत की गई थी। जिसके अनुसार शासन एवं राज्य व्यवस्था करना क्षत्रिय का कार्य था। पृथ्वी 'क्ष' थी और उसे त्राण दिलाने वाला क्षत्रिय था।

अतः सभी ग्रंथकारों और सातों राज्य शास्त्र प्रणेताओं ने राजा के लिए प्रजा रक्षण सबसे बड़ा धर्म माना है। यही बात मनुस्मृति[2] व रघुवंश[3] में कही गई हैं। इनका प्रजा रक्षण से तात्पर्य है कि चोरों, डाकुओं आदि भीतरी आकमणों तथा बाहरी शत्रुओं से प्रजा के प्राण व सम्पत्ति की रक्षा करना। रक्षा के लिए युद्ध करना या मर जाना संभव था, अतः शास्त्र के प्राचीन ग्रंथों का कहना है कि क्षत्रिय का कर्तव्य है। युद्ध करना और सबसे बड़ा आदर्श है। समरांगण (युद्ध करते करते) मर जाना।[4]

इस विषय पर मनु का कहना है कि आकमण में प्रजा की रक्षा करते समय राजा को युद्ध क्षेत्र से नहीं भागना चाहिए, जो राजा युद्ध करते करते मर जाते हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं।[5] यहां तक कि जो सैनिक भी युद्ध करते करते मर जाते हैं वह भी स्वर्ग प्राप्त करते हैं।[6]

नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि विधिपूर्वक अभिषेक होने के बाद प्रजा पालन ही अभिषिक्त राजा का प्रजा पालन धर्म होता है। उन्होंने कहा है कि शास्त्रानुसार वेद को प्राप्त (अर्थात सभी विद्याओं में पारंगत एवं उपनयन संस्कार से युक्त क्षत्रिय अभिषिक्त राजा) को न्यायपूर्वक राजा को चाहिए कि

---

1. कामन्दकीय नीतिसार : अ. 2, श्लोक 40
2. मनुस्मृति : अ. 7, श्लोक 144
3. कालिदास : रघुवंश 14/67
4. राजनीति प्रकाश: पृष्ठ 254–255
5. मनुस्मृति : अ. 7, श्लोक 87–89
6. नीतिमयूख : पृष्ठ ।

अपने राज्य में रहने वाली संपूर्ण प्रजा की रक्षा करें। नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में मुख्यतः क्षत्रिय अभिषिक्त राजा का प्रजा पालन धर्म बतलाकर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। जो कि दूसरे विद्वानों ने इस प्रकार उल्लिखित नहीं किया है।[1] विमर्श – वैसे आपत्ति काल में ब्राह्मण भी क्षत्रिय, वैश्य वृत्ति कर सकता है, वैश्य– क्षत्रिय वृत्ति कर सकता है, और शूद्र भी क्षत्रिय, वैश्य वृत्ति कर सकता है। किन्तु ब्राह्मण शूद्र व्रत्ति और शूद्र ब्राह्मण वृत्ति आपत्ति काल में भी धारण नहीं कर सकते।

---

1. नीतिभूख : पृष्ठ 1

तृतीय अध्याय

'नीलकंठ भट्ट के राजा का महत्व, राजा के गुण-दोष एवं राजा के कर्तव्य संबंधी विचार'

राजा का महत्व व उसकी आवश्यकता-

समाज में शांति व व्यवस्था की स्थापना के लिए, उत्पीड़न की इतिश्री के लिए, लोकमर्यादा की रक्षा के लिए राजा की परम आवश्यकता है। राजा शब्द के अर्थ से उसकी आवश्यकता प्रतिबिम्बित होती है। " राजन शब्द और उसके मूलरूप राष्ट्र का शब्दार्थ "शासक है और इसका संबंध लेटिन भाषा के शब्द रैक्स से है किन्तु भारतीय राजशास्त्रियों ने राजपत्र के अधिकारों को इसलिए राजा की संज्ञा दी है क्योंकि वह प्रजा का रंजक होता है शान्तिपर्व में राजा की व्युत्पत्ति " रंज" धातु से स्वीकारते हुए इसका अर्थ प्रसन्न करता बताया हैं अर्थात राजा प्रजा को प्रसन्नता व आनंद देता है। राजा शब्द का अभिप्राय प्रजा का रंजन करने वाले, धर्म की मूर्ति तथा दैदीप्यमान है औरयही उसका प्रधान लक्षण व कर्तव्य है।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश में रघु का वर्णन करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सभी का आव्हान कर चन्द्रमा ने अपना नाम सार्थक किया और सबको तपाकर सूर्य ने अपना नाम सार्थक किया, उसी प्रकार रघु ने भी प्रजा का रंजन करके अपना राजा नाम सार्थक कर दिया। अतः प्रजा का रंजन करने के कारण ही उसे राजा कहा जाता है।

आचार्य शुक्र ने राजा का कर्तव्य बताया है कि वह प्रजा का रंजन करे। राजा के कारण ही समाज में शांति व्यवस्था स्थापित रहती है एवं प्रजा निर्वाध रूप से निवास करती है तथा आचार्य सोमदेव ने भी राजा के महत्व का वर्णन

---

1. डॉ0 पी.के. जायसवाल : हिन्दु राज्यतंत्र :द्वितीय खण्ड पृष्ठ -1
2. शान्तिपर्व : अध्याय 59, श्लोक -125
3. रघुवंश : अध्याय 4, श्लोक -12
4. नीतिसार : अध्याय 1, पृष्ठ 744

उसके महान कर्तव्यों के वर्णन द्वारा किया है। वह अपने ग्रंथ के आरंभ से ही धर्म, अर्थ, काम, रूप, त्रिवण फल के दाता, राज्य को नमस्कार करते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि समस्त सुखों की प्राप्ति राजा के द्वारा ही प्रजा को होती हैं सोमदेव ने दुष्टों का निग्रह करना तथा सज्जन पुरूषों का पालन करना राजा का परम धर्म बतलाया है।[1]

बाल्मीकि रामायण में राजा का महत्व बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार रथ ध्वजा द्वारा पहचाना जाता है, घूम से अग्नि का बोध होता है उसी प्रकार प्रजा का परिचय राजा के द्वारा होता है।[2] बृहस्पति के अनुसार राजा रहित देश में कृषि, वाणिज्य, लेन,देन, प्रजा रक्षण कार्य प्रतिपादित नहीं किए जा सकते वर्णाश्रम धर्म के उचित रूप में पालन करने के लिए मनुष्यों का नेता (राजा) पहले ही निर्मित किया गया है।[3]

राजा की आवश्यकता एवं महत्व का वर्णन महाभारत के शान्तिपर्व में प्राप्त होता हैं कौशल नरेश वसुमना द्वारा प्रश्न किए जाने पर कि राज्य में रहने वाले प्राणियों की वृद्धि कैसे होती है, उनका हृास कैसे होता है, किस देवता की पूजा करने वाले व्यक्तियों को अक्षय सुख की प्राप्ति होती है? आचार्य वृहस्पति कौशल नरेश के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि लोक में जो धर्म देखा जाता है, उसका मूल कारण राजा ही है, राजा के भय से ही प्रजा एक दूसरे का भक्षण नही करती। राजा ही मर्यादा का उल्लंघन करने वाले तथा अनुचित भोगों में आसक्त रहने वाले संपूर्ण जगत के लोगों को धर्मानुकूल शासन द्वारा प्रसन्न रखता है और स्वयं भी प्रसन्नतापूर्वक रहकर अपने तेज से प्रकाशित होता हैं। जैसे सूर्य और चन्द्रमा का उदय न होने पर समस्त प्राणी घोर अंधकार में डूब जाते हैं और एक–दूसरे को देख नहीं पाते, जैसे अल्प जल वाले सरोवर में मत्स्यगण तथा रक्षक रहित उपवन में पक्षियों के झुंड परस्पर एक दूसरे पर निरन्तर आघात करते हुए स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हैं, वे कभी तो अपने प्रहार से दूसरों को कुचलते और मन्थन करते हुए स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हैं, वे कभी तो अपने प्रहार से दूसरों को कुलचते और मंथन करे हुए आगे बढ़ जाते हैं और कभी दूसरों की चोट खाकर व्याकुल हो उठते हैं। इस प्रकार आपस में लड़ते हुए वे थोड़े ही दिनों में नष्ट –भ्रष्ट हो जाते हैं। इसमें संदेह नहीं है। इस प्रकार राजा के अभाव में ये सारी प्रजाएं आपस में लड़ झगड़कर बात की बात में नष्ट हो जाएंगी और बिना चरवाहे के पशुओं की भांति दुःख के घोर अंधकार में डूब जाएंगी।

---

1. नीतिवाक्यामृत अध्याय –5, श्लोक – 2
2. ध्वजा रथस्य ——— देवत्स मितांगतः 11 अ0क, सर्ग, 67, श्लोक –30
3. नाराज के कृषिवणिक ——— निर्मितःपुरा 11 बृहस्पति स्मृति अ0 1, 8, 9

यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो शक्तिशाली पुरूष दुर्बल मनुष्यों की स्त्रियों तथा पुत्रियों का अपहरण कर लें और अपने घर की रक्षा में प्रयत्नशील मनुष्यों को अन्त कर दें। यदि राजा रक्षा न करे तो इस जगत में स्त्री, पुत्र धन अथवा परिवार कोई भी ऐसा संग्रह नहीं हो सकता जिसके लिए कोई कह सके कि यह मेरा है, सब और सबकी संपूर्ण संपत्ति का लोप हो जाए। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो पापाचारी लुटेरे सहसा आक्रमण करके वाहन, वस्त्र, आभूषण और विविध प्रकार के रत्न लूट ले जाएं। यदि राजा रक्षा न करे तो धर्मात्मा पुरूषों पर बारम्बार नाना प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों की मार पड़े और विवश होकर लोगों को अधर्म का मार्ग ग्रहण करना पड़े। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो दुराचारी मनुष्य, माता, पिता, वृद्ध आचार्य, अतिथि और गुरू को क्लेश पहुंचावे अथवा मार डालें। यदि राजा रक्षा न करे तो धनवानों को प्रतिदिन बध या बन्धन का क्लेश उठाना पड़े और किसी भी वस्तु को वे अपना कह सकें। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो अकाल में ही लोगों की मृत्यु होने लगे, यह समस्त जगत डाकुओं के अधीन हो जाए और पाप के कारण घोर नरक में गिर जाए। यदि राजा पालन न करे तो व्यभिचार से किसी को घृणा न हो, कृषि नष्ट हो जाए, धर्म डूब जाए, व्यापार चौपट हो जाए और तीनों वेदों का कही पता न चले।

यदि राजा जगत की रक्षा न करे तो विधिवत पर्याप्त दक्षिणाओं से युक्त यज्ञों का अनुष्ठान बन्द हो जाए। विवाह न हो और सामाजिक कार्य रूक जाएं। यदि राजा पशुओं का पालन न करें तो दूध दही से भरे हुए घड़े कभी मथे न जाए और गौशालाएं नष्ट हो जाएं। यदि राजा रक्षा न करे तो सारा जगत भयभीत, उद्विग्नचित्त हाहाकार परायण तथा अचेत हो क्षणभर में नष्ट हो जाए। यदि राजा पालन न करे तो उनमें विधि पूर्वक दक्षिणाओं से युक्त वार्षिक यज्ञ सही रूप से न हो सके। यदि राजा पालन न करे तो विद्या पढ़कर स्नातक हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले और तपस्वी तथा ब्राह्मण लोग चारों वेदों का अध्ययन छोड़ दें और चोर घर का माल लेकर अपने शरीर और इन्द्रियों पर चोट आए बिना ही सकुशल लौट जाएं। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो चोर और लुटेरे हस्तगत वस्तु को भी छीन लें, सारी मर्यादाएं भंग हो जाये और सब लोक भय से पीड़ित हो चारों ओर भागते फिरें। यदि राजा पालन न करे तो सर्वत्र अन्याय एवं अत्याचार फैल जाए, वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होने लगें और समस्त देश में दुर्भिक्ष फैल जाए।

राजा से रक्षित हुए प्राणी सब ओर निर्भय हो जाते हैं और अपनी इच्छानुसार घर के द्वार खोलकर सोते हैं। यदि धर्मात्मा राजा भली भांति पृथ्वी की रक्षा न करे तो कोई भी मनुष्य अपशब्द अथवा हाथ से पीटे जाने का अपमान कैसे सहन करे। यदि पृथ्वी का पालन करने वाला राजा अपने राज्य की रक्षा करता है तो समस्त आभूषणों से विभूषित हुई सुन्दरी स्त्रियां किसी पुरूष को साथ लिए बिना ही निर्भय होकर मार्ग से आती जाती हैं। जब राजा रक्षा करता है तो सब लोग धर्म का ही पालन करते हैं, कोई किसी की हिंसा नहीं करता और सभी एक दूसरे पर अनुग्रह करते हैं। जब राजा रक्षा करता है तब तीनों वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लोग बड़े –बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं और मनोयोग पूर्वक विद्याध्ययन में रत रहते हैं। खेती आदि समुचित जीविका की व्यवस्था ही इस जगत के जीवन का मूल है तथा वृष्टि आदि के हेतु भूत त्रयी विद्या से ही सर्वदा जगत का पालन होता है। जब राजा विशाल सैनिक शक्ति के सहयोग से भारी भार वहन करके प्रजा की रक्षा का भार अपने ऊपर लेता है तब यह संपूर्ण जगत प्रसन्न हो जाता है। जिसके न रहने पर सब ओर से समस्त प्राणियों का अभाव होने लगता है और जिसके रहने पर सर्वदा सबका अस्तित्व बना रहता है। ", उस राजा को पूजन कौन नही करेगा? जो उस राजा के प्रिय हित– साधन में संलग्न रहकर उसके सर्वलोक भयंकर शासन भार को वहन करता है। वह इस लोक और परलोक में विजय प्राप्त कर पाता है।'[1]

वसुमना और वृहस्पति के उपर्युक्त संवाद से राजा की आवश्यकता एवं उसका महत्व भलीभांति स्पष्ट हो जाता है। राजा के अभाव में कौन कौन सी हानियां होती है तथा उसके होने से प्रजा को क्या क्या लाभ होता है इन समस्त बातों पर प्रकाश डालने वाला यह संवाद बहुत ही महत्वपूर्ण है।

राजा की आवश्यकता के विषय में ग्रंथों में भी उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है–"देवताओं ने राक्षसों द्वारा अपनी निरन्तर पराजय के कारणों पर विचार किया, तो वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उनकी पराजय इसलिए होती है कि उनका कोई राजा नही है। अतः उन्होंने सर्वसम्मति से राजा का निर्वाचन किया।" इससे प्रकट होता है कि युद्ध की आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप राज्यसत्ता का प्रादुर्भाव हुआ।

---

1. डॉ. एम.एल. शर्मा : नीतिवाक्यामृत में राजनीति पृष्ठ –54–55

कामन्दक ने राजपद को परम उपयोगी बतलाया है। उन्होंने इस जग की स्थिति राजा के ही आश्रित मानी है। उनका मत है कि राजा के अभाव में जग का नाश हो जाता है। राजा प्रजा के आनंद का हेतु होता है। राजा की उपयोगिता के संबंध में कामन्दक का मत है कि इस जगत की उत्पत्ति, उसकी स्थिति एवं बृद्धि का एक मात्र कारण राजा ही होता है। प्रजा के नेत्रों को उसी प्रकार आनंद देता है, जिस प्रकार पूर्णचन्द्र समुद्र को आह् लादित करता है।[1] प्रजा के सम्यक नेता, राजा के अभाव में प्रजा उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार कि कर्णधार (केवट) के अभाव में नौका समुद्र में जलमग्न होकर नष्ट हो जाती है।[2] इस प्रकार कामन्दक ने सूत्र रूप में राजा के महत्व एवं उसकी उपयोगिता पर अपना मत व्यक्त किया है।

कामन्दक ने मनु, भीष्म, कौटिल्य, शुक आदि आचार्यो द्वारा व्यक्त राजा की उपयोगिता संबंधी धारणा को स्वीकार किया है। मनु के मतानुसार राजा का स्वरूप दण्डधारी, धर्म–संस्थापक का हैं दण्ड का सम्यक प्रयोग करने के निमित्त जिस पुरूष का निर्माण किया गया उसको मनु ने राजा की संज्ञा दी है। यह व्यक्ति प्रजा का रंजन (प्रसन्न) करने वाला होता है इसीलिए उसको राजा की संज्ञा दी गई है और उसको पद को "राजपद" नाम से संबोधित किया गया है। अपने इस सिद्धांत की पुष्टि वह इस प्रकार करते हें "सत्यवादी, समीक्षा– परायण, बुद्धिमान तथा धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ण के वास्तविक रहस्य का ज्ञाता व्यक्ति दण्ड धारण कर सकता है।[3]

कौटिल्य के मतानुार राजा राज्य की कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी है। वह दण्ड का प्रतीक है। राजा अपने प्रजा का परमहित हैं उसी समस्त किया अपनी प्रजा के कल्याण हेतु होती है। प्रजा के कल्याण में ही राजा का कल्याण माना गया है।[4]

शुक ने राजा का महत्व स्वीकारते हुए राजा को काल का कारण (युग –निर्माता) कहा है, और बताया है कि राजा के बिना प्रजा स्वधर्म में स्थित नहीं रहती है।[5]

---

1. राजऽस्य जगतो हेतुर्वृद्वेर्वृद्धाभिसम्मतः ।
   नयनानन्दजननः शशाडक्इव तोयधेः ।। 9 ।। —कामन्दकनीतिसार सर्ग –1, श्लोक –9
2. यदि न स्यान्नरपतिः सम्यड नेता तुतः प्रज।
   अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नोरिव ।। 10 ।। – कामन्दकनीतिसार सर्ग–1, श्लोक–10
3. मानव धर्मशास्त्र : अध्याय 7, श्लोक –26
4. अर्थशास्त्र अधिकरण –1 : अध्याय –19, श्लोक –39
5. शुकनीतिसार : अध्याय –1, पृष्ठ –119, 120, 131 एवं 132

भीष्म ने शांतिपर्व में राजा की आवश्यकता एवं महत्ता बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार ग्वालारहित पशु अंधकार में इधर उधर भटककर नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार राजा के बिना प्रजा भी नष्ट हो जाती है।[1] राजा के अभाव में बलबान निर्बल का सब कुछ (धन, दारा आदि) अपहरण कर लेते हैं, और यदि उनको कोई ऐसा करने से रोकने की चेष्टा करता है, तो उसका भी बध कर देते हैं।[2]

सोमदेव सूरि ने राजा की महत्ता के विषय में कहा है कि "राजा महती देव है" राजा परमदेव है, इसलिए गुरूजनों से भी नमस्कार का अधिकारी होता है, फिर भला साधारण प्राणियों के लिए कहना ही क्या।[3] देवरूप (देवमूर्ति) धारण करने से पत्थर भी सम्मान का पात्र बन जाता है, फिर जिस मनुष्य के सम्मानित होने में संदेह ही क्या है जिसने देवरूप धारण कर लिया हो।[4]

लक्ष्मीधर भट्ट ने राजा की आवश्यकता एवं महत्ता का उल्लेख करते हुए कहा है कि "अराजक जनपद में योग क्षेम व्यवस्था का निर्वाह नहीं हो पाता, सेना राजा के शत्रुओं का नाश करके अपने राज्य की ही जनता के लूटने–खसोटने में संलग्न रहती है। अराजक जनता की वही दशा हो जाती है, जो कि ग्वाला रहित गौओं की, तृणरहित वन की और जलरहित नदी की होती है।

---

1. शान्तिपर्वः 68, श्लोक 10 से 13 तक
2. शान्तिपर्व : 68, श्लोक 14
3. नीतिवाक्यामृतम : वार्ता 67, समु. 5
4. नीतिवाक्यामृतम : वार्ता 30, समु. 7

सम्पूर्ण जगत प्रगाढ़ अंधकार में मग्न होकर अन्धे की भांति सत् और असत् की पहचान करने में समर्थ नहीं होता हैं राजा के बिना संपूर्ण जगत नष्ट हो जाता है, ऐसा समझकर प्रभु ने राजा का सृजन किया''।[1]

मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट भी अपने पूर्ववर्ती व समकालीन राजशास्त्र विचारकों की भांति ही राजपद को महान महत्वपूर्ण एवं परम आवश्यक मानते हैं। लेकिन उन्होंने राजा को स्वामी के नाम से संबोधित किया है।[2] राजा के महत्व एवं उसकी आवश्यकता पर जो विचार नीलकण्ठ भट्ट ने अपने नीतिमयूख में व्यक्त किए हैं।

नीलकण्ठ भट्ट ने अपने नीतिमयूख में व्यक्त किए हैं, वे लगभग वही है जो कि मनु ने मानव धर्मशास्त्र तथा कामन्दक ने नीतिसार में व्यक्त किए हैं। नीलकण्ठ भटट ने मनुस्मृति को उद्घृत कर राजा में देवताओं के अंश होना स्वीकार किया है।[3] तथा वह मानते हैं कि ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा और कुबेर का सारभूत नित्य अंश लेकर राजा की सृष्टि की। चूंकि राजा इन्द्र आदि सब देवों के नित्य अंश से रचा गया हैं इस कारण यह (राजा) तेज से सब जीवों को अभिभूत (पराजित) करता है। यह राजा प्रभाव (अपनी अधिक शक्ति) से अग्निरूप वायुरूप है, सूर्यरूप है, चन्द्ररूप है, धर्मराज (यम) रूप है, कुबेर रूप है, और महेन्द्र रूप है।[4]

राजा के महत्व एवं उसके पद की आवश्यकता प्रमाणित करने के लिए नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिसार का दृष्टांत देते हुए कहा है कि, जगत की उन्नति का एकमात्र हेतु (कारक) राजा ही है। तथा चन्द्रमा जिस प्रकार समुद्र को आल्हादित करता है, उसी प्रकार राजा प्रजा के नेत्रों को आनंद देता है। यदि अच्छी शिक्षा देने वाला राजा न हो तो समुद्र में कर्णधार हीन नौका के समान प्रजा विपत्ति को प्राप्त हो जाती है।[5]

नीकलण्ठ भट्ट ने राजा को धर्मरूप एवं न्यायरूप मानते हुए कहा है कि –धर्मानुसार

---

1. लक्ष्मीधर भट्ट : राजधर्म काण्ड
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 42
3. वही वही
4. वही वही
5. वही वही

भली प्रकार पक्षपात रहित पुत्र के समान प्रजा पालन में तत्पर शत्रुनाशक राजा को प्रजापति (अर्थात सृष्टिकर्ता के समान प्रजा सर्वभाव से सम्मान करती है। जिस समय राजा न्याय परायण होता है, उस समय वह अपने को और प्रजा को भी त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म, काम) का साधन करा सकता है, अन्यथा अवश्य ही त्रिवर्ग का नाशक होता है। धर्म से यवन राजा ने भी चिरकाल तक पृथ्वी को भोगा था, और अधर्म करने से राजा नहुष शीघ्र ही रसातल को प्राप्त हुआ) विमर्श .....नहुष राजा पहले (बहुत) बड़ा धर्मात्मा था, जब एक समय इन्द्र अपने अमरराज से वंचित हुए तब महर्षियों ने इसको ही अमरावती का राज्य दिया। तब इन्होंने इन्द्राणी की अभिलाषा की और उसके प्राप्त करने को उसकी प्रतिज्ञानुसार महर्षियों को पालकी में ले गया, वे इनकी पालकी लेकर चले, और राजा शीघ्र चलने के लिए सर्प सर्प कहने लगे, जिससे इनको कोध हुआ। तब राजा के चरण प्रहार करने पर दुर्वासा ने शाप दिया कि तुम शीघ्र ही सर्प होकर पृथ्वी पर गिरो, राजा तुरन्त अजगर को गिरा, और उस पर धर्मराज युधिष्ठिर ने प्रहार किया) इस कारण धर्म को आगे करके राजा को अर्थ प्राप्ति के यत्न करने चाहिए, क्योंकि धर्म से ही राज्य बढ़ता है, और लक्ष्मी उसका स्वादुफल है।[1]

राजा (स्वामी) के गुण :

सभी प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा के गुणों के विषय में सविस्तार उल्लेख किया है। राजा के गुणों का उल्लेख करते हुए मनु ने कहा है कि, राजपद पर आसीन होने के लिए आवश्यक था कि राजा आन्वीक्षिकी (आत्म विद्या, तर्कशास्त्र आदि) में पारंगत, विनीत, स्मृति, वान, सत्यवादी, वृद्धों का आदर करने वाला, अश्लील एवं कटु वचनों का अप्रयोक्ता, धर्म में निष्ठावान, व्यवहारिक ज्ञान का ज्ञाता, जितेन्द्रीय, तीनों वेदों का ज्ञाता, दण्डनीति का ज्ञाता व सत्यवादी, कार्य प्रारंभ करने से पूर्व उस पर ठीक प्रकार से विचार करने वाला, बुद्धिमान एवं धर्म तथा अर्थ का ज्ञाता हो।[2]

आचार्य कौटिल्य ने भी राजा "स्वामी" के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि राजपद प्राप्त करने वाला राजा –वाग्मी, प्रगल्भ, स्मृतिवान, मति तथा बल से युक्त, उन्नतिचित्त, संयमी, हाथी, घोड़ों की सवारी करने में चतुर, विपत्ति ग्रस्त, शत्रु पर चढ़ाई करने वाला, स्वयं विपत्ति

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 42
2. मनु : मनुस्मृति – श्लोक 27, 37, 39, 45, 88

ग्रस्त होने पर अपनी सेना की रक्षा करने में समर्थ, किसी के उपकार तथा अपकार का शास्त्रानुसार प्रतिकार करने वाला, लज्जायुक्त, दुर्भिक्ष एवं सुभिक्ष में धान्य आदि का पण्य का ठीक ठीक वितरण करने वाला सुदूर भविष्य तक का चिन्तन करने वाला अपनी सेना के युद्धोचित्त, देशकाल, उत्साह, शक्ति एवं कार्य का प्रधान रूप से निरीक्षण करने वाला, संधि के प्रयोग का ज्ञाता, प्रकाश युद्धादि करने में निपुण, सुपात्र को दान देने वाला, प्रजा को बिना कष्ट पहुंचाए गुप्त रूप से कोश की वृद्धि करने वाला, मृगया, द्यूत, आदि व्यसनों से शत्रु को ग्रसित जानकर उस पर तीक्ष्ण रस आदि का प्रयोग करने में कुशल, अपने मंत्र को गुप्त रखने वाला, दीन पुरूषों का उपालम्बन करने वाला, भृकुटि टेढ़ी करके न देखने वाला, काम, कोध, मोह, चपलता, उपताप और पैशुन्य से सदा दूर रहने वाला एवं वृद्धों के उपदेशों तथा उनके आचारों का अनुरागी होना चाहिए।[1] इन समस्त गुणों की प्राप्ति एवं दृढ़ता ही राजा को आत्म सम्पन्न बनाए रखती है। अतः राजा को प्रयत्न पूर्वक इन गुणों का आयोजन करना चाहिए।

लक्ष्मीधर भट्ट के अनुसार राजा को शक्तिमान, मतोत्साही, स्थान–आसन आसन– हिम --आतम--वात आदि पर विजयी, दृढ़ साहसी, इन्द्रिय विजयी, ईर्ष्या द्वेष रहित, त्यागी, संपूर्ण प्राणियों को शरण देने वाला, भक्तवत्सल, सत्यवादी, क्षमाशील, राग–द्वेष मत्सरजित, दानी, विनीत, सम्भाषी, प्रियदर्शी, धर्मपरायण, भृत्यवर्ग और प्रजा के प्रति पितृवत होना चाहिए तथा लक्ष्मीधर भट्ट ने राजा का सबसे बड़ा गुण प्रजा के सुख दुख को अपना सुख दुख समझना माना है।[2]

चण्डेश्वर के अनुसार राजा महोत्साही, स्थूल, लक्ष्यवान, कृतज्ञ, वृद्धसेवी, विनीत, सत्वसम्पन्न, कुलीन, सत्यवादी, शुचि, अदीर्घसूत्री, स्मृतिवार, उदार, कठोरतारहित, धार्मिक, अव्यसनी, प्राज्ञ, शूर और रहस्यवित होना चाहिए।[3]

मित्रमिश्र के अनुसार राजा दीर्घदर्शी, महोत्साही, शक्तिमान, परगुणप्रशंसी, त्यागी, प्राणियों को शरण देने वाला, सत्यभाषी, अमत्सरी, गंभीर, परसमृद्धि में प्रसन्न रहने वाला, बुद्धिमान, तेजस्वी, उपस्थित, अनिष्ट के प्रतिकार में कुशल, शीघ्र कार्य करने वाला दक्ष, क्षमाशील, अपने लक्ष्य को समझ

---

1. कौटिल्य अर्थशास्त्र : वार्ता 6, अध्याय I, अधि I
2. लक्ष्मीधर भट्ट : राजधर्म काण्ड (कृत्य कल्पतरू)
3. चण्डेश्वर : राज्ञेनिरूपण तरंग – राजनीति रत्नाकर

लेने वाला, देशकाल–द्रव्य प्रयोग के ज्ञान एवं कुशल, फल के अनुरूप मंत्र तंत्र का ज्ञाता, शत्रु छिद्र ज्ञाता, दृढ़प्रहरी, हस्तकला कुशल, स्थान–आसन–शीतोष्ण–विजयी, षडवर्ग विजयी इन्द्रिय विजयी, प्रजाप्रिय, दीनों पर अनुग्रह करने वाला ब्राह्मणों को अन्न प्रदान करने वाला, और लक्ष्मी तथा यश का अभिलाषी होना चाहिए।[1]

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में नीतिसार को उद्घृत करके राजा के गुणों का उल्लेख करते हुए बताया है कि राजा अपने राज्य में न्याय द्वारा धन का उपार्जन उसकी रक्षा और बढ़ाना तथा सत्यपात्र में उसका निक्षेप, यह चार प्रकार के राजा की वृत (कर्तव्यता) है। विनय नीति का मूल है, विनय ही शास्त्र का निश्चय है, विनय ही इन्द्रिय जय में साधक है, अतः इन विनय से युक्त हुआ पुरूष ही शास्त्र को प्राप्त होता है।[2]

तथा शास्त्र बुद्धि धृति (धीरता) दक्षता, प्रगल्भता, धारण, शक्ति, उत्साह, बोलने में चतुराई, दृढ़ता, दुख में क्लेश सहने का अभ्यास, प्रभाव पवित्रता, मित्रता, त्याग, सत्य बोलना, दूसरे का उपकार मानकर उसको स्मरण रखना, शास्त्र तथा शील संपन्न होना, और बाहर तथा भीतर की इन्द्रियों को जीतना, यह सभी गुण सम्पत्ति के कारण है। राजा को उचित है कि प्रथम अपने को विनय सम्पन्न करे फिर मंत्री, फिर भृत्य, इसके पश्चात पुत्र और तत्पश्चात प्रजा को सम्पन्न करे। सदा प्रजा में अनुरक्त, प्रजा पालन में तत्पर, विनीत आत्मा राजा महालक्ष्मी को प्राप्त होता है। बड़े ही जटिल विषय रूपी बन में दौड़ते हुए मन मन को मथने वाले इन्द्रिय रूप हाथी को ज्ञान तथा अंकुश से वशीभूत करें।[3]

विषय रूपी अमिष के लोभ से मन इन्द्रियों को प्रेरित करता है। इससे यत्नपूर्वक मन को जीतना चाहिए, मन के जीतने से इन्द्रिय जीत ली जाती है। इस प्रकार साधन की सामर्थ से आत्मा से ही आत्मा को निरोध कर नीति और अनीति का जानने वाला राजा अपना हित साधन करे। जो एक अपने मन को जीतने में ही समर्थ नहीं है, वह राजा समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को भला किस प्रकार जीत सकता है। कार्य के पीछे विरस होने वाले, मन को हारने वाले, विषयों से हृदय में ताड़न

---

1. मित्रमिश्र : राजनीति प्रकाश
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 43
3. वही वही

किया हुआ राजा के समान पकड़ लिया जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पांचवी गंध इन एक एक की भी अधिक आसक्ति राजा के विनाश करने में समर्थ है।[1]

इस विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने आगे कहा है कि पवित्र दूर्वा (घास) अंकुर का भोजन करने वाला, दूर भ्रमण (भागने) में समर्थ लुब्धक (बहेलिया) के गीत से लुभाया हुआ मृगा भी, अपने आप बध ा का कारण हो जाता है। जैसे कि पर्वत के शिखर (चोटी) के समान आकार वाला, लीला से ही वृक्षों को उखाड़ने वाला हाथी हथिनी के स्पर्श के लोभ से वध को प्राप्त हो जाता है। तथा स्निग्ध दीपक की शिखा के दर्शन से जिसके नेत्र लुभा गए हैं, अचानक ही पतंगा उस लौ पर गिरकर अपने प्राण दे देता है। यह एक रूप का विषय है, इसमें सन्देह नहीं। जिसका निवास स्थान दृष्टि से दूर अगाध ा जल में हो, ऐसा मीन अपनी मृत्यु के लिए अमिष सहित लोह का भक्षण करता है। द्विरेफो (दो है रकार जिसमें) अर्थात भ्रमर (मधुकर), कमल की गंध के लोभ के कारण सूर्य के अस्त होने पर भी कमल के फूल में बंद हो जाता है। यह विष के समान विषय एक एक को ही मारते हैं। लेकिन जो राजा इन पांचों विषयों का सेवन करता हो, वह राजा किस प्रकार सकुशल रह सकता है।[2] अतः राजा समय पर ही विषयों का सेवन करे, जितेन्द्रिय पुरूष को इसकी तत्परता तथा आसक्ति नही चाहिए, अर्थ का फल सुख है, यदि यह न मिले तो लक्ष्मी व्यर्थ हैं । धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, और काम से सुख फल का उदय होता है। जो राजा युक्तिपूर्वक इनका सेवन नही करता है। वह इनका नाश कर अपने को ही नष्ट करता है। जिनके मन स्त्री को देखने में लगे हुए हो उनकी लक्ष्मी और यौवन आसुओं के साथ नष्ट हो जाते हैं। स्त्री है ऐसा मोहकारक शब्द मन में तत्काल विचार करता है, फिर उस वॉम लोचन वॉकी भौंह वाली के दर्शन की तो कौन कहे। एकान्त प्रचार में कुशल, कोमल और गदगद् कंठ से भाषण करने वाले, कपोलों (कोपों) में लालिमा वाली, बामलोचना नारी किस अनुरक्त पुरूष को नहीं रमाती है, अर्थात ऐसी स्त्री मुनि के मन को भी रागी और वशीभूत कर लेती है। अतः राजा को हमेशा ऐसी स्त्री का त्याग करना चाहिए।[3]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 43
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 43 –44
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 44

नीलकण्ठ भट्ट ने पुनः राजा के गुणों का उल्लेख करे हुए कहा है कि राजा अपने राज्य में न्याय अनुसार दण्ड का प्रयोग करे। शत्रुओं के देश में कठोर दण्ड का प्रयोग करे, स्वाभाविक मित्रों में सरल व्यवहार कैसे करें और (छोटे अपराध करने पर) ब्राह्मणों में क्षमा को धारण करें।[1]

याज्ञवलक्य स्मृति को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि राजा को सेवकों एवं प्रजा के पिता के प्रति पिता के समान (दयावान एवं हितकारी) होना चाहिए।[2]

नीलकण्ठ भट्ट ने योगयात्रा के आधार पर राजा को षाड्गुणी बताते हुए कहा है कि जो बुद्धिमान हो, हीन वचनों का उच्चारण न करता हो, चतुर हो, क्षमाशील हो, कमजोर न हो, धर्मात्मा हो, किसी की निंदा न करता हो, षाड्गुणी अर्थात छः गुणों से युक्त हो, शक्तिशाली हो, दूसरों के अच्छे कार्यों को अपनी बुद्धि में धारण करता हो, वृद्धि तथा नाश का ज्ञान रखता हो, वीर हो, व्यसनों से दूर रहता हो, उपकारी का स्मरण रखता हो, बृद्धों की सेवा करता हो वही राजा गुणवान है।[3] जो राजा दूसरों के दोषों को दृष्टिगत करके भी उनका वर्णन न करने वाला, दृढ़ प्रतिज्ञ, शक्तिशाली प्रहार करने वाला, दृढ़ प्रतिज्ञ, शक्तिशाली प्रहार करने वाला, जितेन्द्रिय, क्रोध, लोभ, निन्दा, आलस्य, स्थान, भृष्टता को जीतने वाला, त्यागी, विनम्र, सुन्दर, मोह का त्याग करने वाला, ज्ञान से युक्त, देश और काल को जानने वाला, तथा जो स्वयं व्यवहार को देखने वाला होता है, वही राजा गुणवान होता है।[4] जो शब्द और ज्ञान में चतुर हो, विद्वान हो, युद्ध विद्या में कुशल हो, अच्छे कुल में जन्मा हो, थोड़ा बोलता हो, भाग्यशाली हो, वही लक्ष्मी का निवास स्थल है अर्थात ऐसे ही राजा के पास लक्ष्मी निवास करती है।[5]

राजा (स्वामी) के (व्यसन) दोष : राजा के उपर्युक्त वर्णित गुणों के बावजूद नीतिमयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने राजा के कुछ ऐसे दुर्गुणों का भी उल्लेख किया है, जिनके कारण राजा भी पतित होकर नाश को प्राप्त हो जाता है। इन्हीं दुर्गुणों को नीलकण्ठ ने नीतिमयूख में व्यसन के नाम से

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 50
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 50
3. वही वही
4. वही वही
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 50

संबोधित किया है। एक अच्छे राजा को इन व्यसनों से सर्वदा मुक्त रहना चाहिए। नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में वर्णित राजा के व्यसनों को मुख्यतः दो श्रेणियों में विभक्त किया है।[1]

(1) कामजन्य व्यसन– नीलकण्ठ भट्ट ने मृगया (शिकार) जुआ, दिन में सोना, पराए की निंदा, स्त्री में अत्याशक्ति, मद, नशा (मद्यपान आदि) नाच गाने में अत्याशक्ति, और व्यर्थ (निष्प्रयोजन) भ्रमण, और द्यूत ये दश कामजन्य व्यसन बताए हैं।[2]

(2) क्रोध जन्य व्यसन – चुगलखोरी, दुःसाहस, द्रोह, ईर्ष्या (दूसरे के गुणों) का न सहनाद्ध असूया (दूसरों के गुणों में दोष बतलाना) अर्थदोष (धनापहरण या धरोहर आदि को वापिस नहीं करना)। कठोर वचन और कठोर दण्ड ये आठ क्रोध जन्य व्यसन नीलकण्ठ भट्ट ने कहे हैं। इन उपरोक्त दोनों प्रकार के व्यसनों में जो व्यसन ज्यादा हानिकारक होते हैं, उनके विषय में व्याख्या करते हुए नीलकण्ठ भट्ट आगे बताते हैं कि "कामजन्य व्यसन समुदाय में मद्यपान, जुआ, स्त्रियों में अत्यधिक आसक्ति, और शिकार (आखेट) इन चारों को राजा क्रमशः अत्यन्त कष्टदायक जाने जाते हैं तथा क्रोध जन्य व्यसन समुदाय में दण्ड प्रयोग, कटु वचन और अर्थदूषण (अन्याय से दूसरे की सम्पत्ति हड़प लेना) इन तीनों को क्रमशः सर्वदा अति कष्टदायक जाने। इस प्रकार संपूर्ण राजमण्डल में रहने वाले इन सात व्यसन समुदाय में से पूर्व पूर्व (अगले की अपेक्षा पहले वाले को) जितेन्द्रिय पुरूष गुरूतर (अधिक कष्टदायक) समझें।[3] विमर्श मयूखाकार ने जो कामजन्य 10 व्यसन समुदाय बताए हैं, उनमें भी चार को अधिक कष्टदायक कहा हैं। किन्तु इन चारों (मद्यपान, जुआ, स्त्री सेवन ओर आखेट) में भी आगे वाले की अपेक्षा पहले वाला विशेष (भारी) अनिष्ट कारक है, अर्थात आखेट की अपेक्षा स्त्री सेवन, स्त्री सेवन की अपेक्षा जुआ, जुआ की अपेक्षा, मद्यपान आदि कष्टदायक है। इसी प्रकार जो कोध अन्य आठ व्यसन समुदाय पहले कहे हैं, उनमें भी तीन को अधिक कष्टदायक कहा है। किन्तु इन तीनों (दण्ड प्रयोग, कटुवचन, और अर्थदूषण) में भी आगे वाले की अपेक्षा पहले वाला

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 48
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 48
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 48

अधिक कष्टकारक है, अर्थात अर्थप्रदूषण की अपेक्षा कटु बचन, कटु बचन की अपेक्षा दण्ड प्रयोग अधिक कष्टदायक है।

मद्यपान के दोष

वराहामीहिर के मत को उद्घृत कर मद्यपान के दोषों का उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि मद्यपान करने वाला राजा मदिरा के वश में होकर माता को पत्नी के रूप में, तथा पत्नी को माता के रूप में देखता है। कुत्तों के निवास स्थल को मंदिर के समान तथा दृढ़ शिलाओं से बने हुए कुए को घर समझकर भ्रमवश स्थल (जमीन) पर लेटते ही कुए में गिर पड़ता है। मित्रों से द्वेष करता है, तथा द्वेष करने वालों से प्रेम करने लगता है।[1] नीतिसार को उद्घृत कर पुनः नीलकण्ठ भट्ट ने वमन, निगुर्णत्व, संज्ञानाश, वस्त्ररहित हो जाना, वृथा (बक बक करना) प्रलाप, अकस्मात् व्यसन में पड़ना, सत्पुरूषों से विमुक्त रहना, असत्यपुरूषों की संगति करना अनर्थ का समागम पद पर स्खलित होना, शरीर में कम्पन, तन्द्रा अधिकतर स्त्री का सेवन, संकल्पना से ही स्त्री का संग, इत्यादि मद्यपान के दोष बताए हैं। जिनकी सत्पुरूषों ने बड़ी निंदा की है।[2] क्योंकि शास्त्र और शीतलता संपन्न, कभी क्षीण न होने वाले "अन्धक" और "वृष्णि" मद्यपान के महादोष से ही परस्पर युद्ध कर प्रभास क्षेत्र में क्षय को प्राप्त हो गए थे।[3]

मद्यपान की स्वीकृति

मद्यपान करना एक महत्वपूर्ण बुराई होने पर भी नीलकण्ठ भट्ट ने योग यात्रा के आधार पर राजा के लिए मद्यपान की स्वीकृति के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि –अभ्यास होने पर, उत्सव होने पर बैद्य के आदेश (सलाह) पर (बैद्य के द्वारा सलाह दिए जाने पर मद्यपान से रोग आदि का नाश होता है) तथा इच्छा से अप्रकाशित (छिपकर) राजा को मद्यपान करना चाहिए।[4] यह उनकी अपनी सूझ जान पड़ती है।

द्यूत (जुआ) के दोष

नीतिसार को उद्घृत कर द्यूत (जुआ) के व्यसनों के विषय में उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि लोभ, धर्म, किया का लोभ, कर्मो में अप्रवृत्ति, सत्पुरूषों के

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 48
2. वही वही
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 49
4. वही वही

समागम का वियोग, असत्पुरूषों से व्यवहार, हमेशा स्वल्प अर्थ के होने में निराशता और न होने वाले अर्थ में प्रेम, प्रतिक्षण में कोध और हर्ष, प्रतिक्षण में संताप, क्षण–क्षण में क्लेश करना, क्षण–क्षण में साक्षी पूछना, अन्यायवाचो, अंग की दुर्बलता, शास्त्र के अर्थ को देखना, मूत्रपुरीष के वेग को रोकना, भूख प्यास से पीड़ित रहना, इत्यादि यह सब द्यूत के ही दोष हैं। अतः राजा कभी भी जुआ न खेले।[1]

पुनः द्युत (जुआ) के दोषों की विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि पाण्डु के पुत्र धर्म राज दूसरे लोक पाल के ही समान थे, परन्तु उस महा बुद्धिमान ने द्यूर्तरूपी असतकार्य में अपनी प्रिया द्रौपदी हार दी। तथा राजा नल के बहुत बड़े राज्य का जुआ खेलने के कारण हरण हो गया जिसने अपनी धर्मपत्नी दमयन्ती को वन में त्याग कर दूसरे की सेवा रूप कार्य किया। इस प्रकार द्यू से ही अनर्थ होता है द्यूत से ही स्नेहक्षय होता है, और द्यूत से ही अपने पक्ष वालों का, हितकारियों का भेद होता है।[2]

स्वामिकृत्य :

नीतिमयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिसार को उद्घृत कर स्वामिकृत्यों का उल्लेख करते हुए कहा है कि स्वामी (राजा) को उचित है कि वह सेवक, अनुजीवियों की वृत्ति दान का समय न व्यतीत करे, उनके कर्म के समान वृति की कल्पना करें। स्थान, काल और पात्र में कभी अपात्र में राजा कभी भी वृत्ति का लोप न करें, क्योंकि वृत्ति के लोप से राजा की निंदा होती है। सत्पुरूषों से निन्दित अपात्र में राजा कभी दान न करें, अपात्र में दान करने से कोष (धन) के क्षय के सिवाय और क्या लाभ। कुल, विद्या, शास्त्र, शूरता, सुशीलता, उसके पूर्व चरित्र अथवा वय (उम्र) अवस्था को देखकर महात्मा का आदर करना चाहिए। बुद्धिमान (वृद्ध) को उचित है कि भली वृत्ति वाले कुलीन पुरूषों का कभी तिरस्कार न करें। वह तिरस्कार करने वालों को त्याग देते हैं, वा मान (सम्मान) के कारण मार डालते हैं। अन्धकार वाले अज्ञानी के समीप पंडित जन निवास नहीं करते जहां जाति संज्ञ मणि और कांच के समान वर्ताव किया जाता है, कृशता को प्राप्त हुआ विवेकी पुरूष भी राजा के आश्रय को प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं।[3] संपूर्ण गुणों से हीन होने पर भी जो प्रतापी है, वही

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 49
2. वही वही
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 62

राजा है, प्रतापवान राजा भी शत्रुओं को नष्ट कर सकता है। जैसे कि सिंह मृग को नष्ट कर सकता है।[1]

अनुरक्त और विरक्त स्वामी के लक्षण --

नीलकण्ठ भट्ट ने अन्य रानीति विचारकों के समान ही शासक के लिए स्वामी और राजा इन दो शब्दों का प्रयोग किया है। प्रजा और राष्ट्र का चतुर्मुखी विकास, दुष्ट निग्रह तथा न्याय और दंड धारण करके राजा का जो रूप है वह प्रजा को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता है। अतः आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने राजा के एक दूसरे रूप का उल्लेख किया है, जिसके द्वारा वह (राजा) प्रजा को अपनी ओर आकृष्ट करता है, प्रजा के संपर्क में आता है, प्रजा में उत्साह उत्पन्न करता है, उसके स्तर को ऊँचा उठाने में सहायता करता है, साथ ही राजसेवकों व अमात्यों में भी कर्तव्य निष्ठा की भावना जागृत करता है, इस प्रकार मयूखाकार ने राजा के इसी रूप को स्वामी कहा है।[2]

कौटिलीय अर्थशास्त्र में स्वामी के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है। उत्तम कुलोत्पन्न, देवी वृद्धि, बलशाली, सत्यवादी, वार्तालाप में विशेष योग्य, कृतज्ञ उच्च उद्देश्य वाला दृढ़ बुद्धि, समर्थ सामान्तों से युक्त, महान उत्साह युक्त, शीघ्र कार्य करने वाला, शास्त्र मर्यादा का अभिलाषी एवं उत्तम मनुष्यों की सभा में बैठने वाला ये सभी स्वामी के लक्षण हैं।[3]

आचार्य सोमदेव सूरि के अनुसार, शौर्य, कोध, कर्तव्य पालन में शीघ्रता, सत्कार्य में प्रवीणता और उत्साह, ये स्वामी के लक्षण हैं।[4]

अनुरक्त स्वामी के लक्षण --

अनुरक्त स्वामी के लक्षणों का उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिसार को उद्धरण देते हुए कहा है कि जो राजा कार्य के समान ही वृत्ति वाले सत्पात्र में दान देने वाले, कुल, विद्या, शास्त्र, शूरता, सुशीलता, वय एवं अवस्था को देखकर कुलीन पुरखों का तिरस्कार नहीं करता है वही अनुरक्त स्वामी है।[5]

विरक्त स्वामी के लक्षण -

विरक्त स्वामी के लक्षणों के विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि –

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 62
2. वही · वही
3. कौटिलीय अर्थशास्त्र : अधि 6, पृष्ठ 390
4. नीतिवाक्या मृतम : स्वामि समुद्देश, पृष्ठ 181
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 62

स्वामी (राजा) के कोध रहित होने पर भी कोध मान लेना व स्वंय कोध रहित होने पर भी उसके सम्मुख कोध की आभा प्रकट करना, प्रसन्न होने पर भी फल न देना, उसके कथन करते हुए भी अकस्मात उठकर चल देना, और रूखेपन से बार–बार देखना, सेवक पर दोषारोपण करना, तथा उसकी आजीविका का विच्छेदन (जुर्माना, तनख्वाह घटाना व मुअत्तल कर देना) कर देना, उसके अच्छे कथन को भी अन्यथा समझना, बिना पूर्व (आचक्षण) के भी कथाभंग कर देना तथा विरस रहना। शैया पर सोते समय जागने का और जागते समय सोने का सा आकार किए रहना व बलपूर्वक जगाने पर भी सोते हुए के समान रहना आदि यह सभी विरक्त स्वामी के लक्षण हैं।[1] इस प्रकार नीलकण्ठ भट्ट ने अनुरक्त और विरक्त स्वामी के लक्षण बताते हुए कहा है कि अनुरक्त स्वामी से वृत्ति की इच्छा करें, और विरक्त को त्याग दें।[2]

राजकृत्य : --

प्राचीन काल (भारत) में स्वामी (राजा) केवल राज्य ही नहीं अपितु शासन भी करता था उसका उत्तारदायित्व एवं कार्यभार अत्यधिक था। अतः सभी प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं (मनु, कौटिल्य, भीष्म, शुक, कामन्दक व सोमदेव सूरि आदि ने राजा का दैनिक कार्यक्रम निर्धारित किया है) उक्त राजनीतिक विचारकों के राजा के दैनिक कार्यक्रमों का उल्लेख से केवल यह ही आभास नहीं होता था कि वे राजा के लिए करना आवश्यक थे, बल्कि यह भी आभास होता है कि राजा अत्यधिक व्यस्त रहता था।

भीष्म ने शांतिपर्व में राजा के कर्तव्यों का संकेत के रूप में उल्लेख किया है। उनके मतानुसार राज्य एक महान भार है। इस भार के बहन करने में अयोग्य पुरूष समर्थ नहीं हो सकता है। जो कार्य कठिन परिश्रम साध्य है, उस कार्य को कोमल मनुष्य किस प्रकार विधिवत संपन्न कर सकता है।[3] इसलिए इस गुरू भार को वहन करने के लिए कुशल एवं समर्थ वाहक की आवश्यकता होती है इस वाहक में शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सभी प्रकार के गुण होने परमाश्यक हैं। भीष्म राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य आत्मविजय करना मानते हैं। जिस राजा ने आत्म विजय नहीं की, वह अपने

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 63
2. वही वही
3. शान्ति पर्व : 21/58

शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त कर सकता है। आत्मविजय से भीष्म का अभिप्राय पांच ज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से है।[1] लोकरंजन कार्यों का सम्पादन करने में राजा को किस नीति का अवलम्बन करना चाहिए इस विषय में भीष्म ने गर्भिणी स्त्री का दृष्टान्त दिया है – जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने मन को प्रिय लगने वाली वस्तु का परित्याग कर गर्भस्थ शिशु के कल्याण में निरन्तर संलग्न रहती है। उसी प्रकार राजा को भी सर्वदा अपने हितकारी कार्यों का परित्याग कर लोकरंजन कार्यों में निरन्तर संलग्न रहना चाहिए।[2]

आचार्य शुक ने राजा के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए कहा है कि राजा का परम धर्म प्रजा परिपालन और दुष्टिनिग्रह है। तथा राजाको प्रजा रंजन कार्य में नित्य तत्पर रहना चाहिए। शुक ने दुष्टनिग्रह प्रजा परिपालन राजसूय आदि यज्ञों का यजन, न्यायानुसार –कोष अर्जन, राजाओं को अध ीन करद राजाओं के रूप में परिणत करना, शत्रुपरिवर्धन व भूमि संग्रह करना आदि कर्तव्यों का पालन करना राजा का परम धर्म बतलाया गया है।[3]

आचार्य सोमदेव सूरि ने राजा द्वारा प्रजा की सेवा जिस प्रकार से की जाती है उन सिद्धांतों को नीतिवाक्यामृत में कर्तव्य क्षेत्र के अन्तर्गत माना है। अतः राजा के ये कर्तव्य –वर्णाश्रम व्यवस्था का सम्यक संचालन, प्रजा परिपालन, न्याय व्यवस्था की स्थापना असहाय तथा अनाथ परिपोषण बताए हैं।[4]

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने भी अपने राजनीतिक ग्रंथ नीतिमयूख में पूर्वोक्त, ग्रंथों की भांति राजा के कार्यकम का विस्तृत विवरण दिया है। लेकिन नीतिमयूख में नीलकण्ठ भट्ट ने राजा के दैनिक कार्यों को राजकृत्य के नाम से संबोधित किया है। नीलकण्ठ ने वराहामीहिर के मत को उद्धृत कर राजकृत्यों का उल्लेख करते हुए कहा है कि रात्रि के समाप्त होने पर, मित्र तथा शत्रु के मध्य एवं देश में सेना के लिए नियोजित कर्तव्य तथा अकर्तव्य कार्यों को विचार कर निश्चित करना चाहिए।[5] समापर्व में भी कहा गया है कि रात्रि के अवसान होने पर राजा को आगामी दिन का कार्यक्रम निर्धारित कर लेना चाहिए।[6]

---

1. शान्तिपर्व : 5/69 2. शान्तिपर्व : 45/56 3. शुकनीति : अध्याय । श्लोक 14 – 20
4. नीतिवाक्यामृत : समु. 7, वार्ता 20 – 25 5. नीतिमयूख : पृष्ठ 51
6. सभापर्व गीता : 5–29, किद्ध 5–17, 5–75

पुनः नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि वेणु, वीणा, नगाड़े की ध्वनि, तथा गीत से निंद्रा का त्याग करके तुरही के शब्द के समाप्त होने पर, तथा मंगल पाठ करने वालों की वाणी को सुनते हुए राजा को अपनी शैया का त्याग करना चाहिए।[1] इसके पश्चात आचार्य मयूख में वर्णित विधि से शौच एवं दन्त धावन करना चाहिए।[2] दन्त धावन के त्याग के विषय में योग यात्रा को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि सामने आई हुई तथा पूर्व दिशा की ओर स्थित ऊपर रखी हुई, शुभ मति को प्रदान करने वाली होती है तथा नीचे गिरी हुई एवं बाएं हाथ से दी हुई अन्यथा फलदायी होती है, तथा स्थित में पतित (उचित स्थान पर गिरी हुई) शुभकारी होती है।[3]

नीलकण्ठ भट्ट ने मूंछ व दाड़ी के विषय में राज्यकृत्यों के अन्तर्गत कहा है कि राजा को पाचवें दिन अपनी दाड़ी बनानी चाहिए अथवा क्षौर कर्म के साथ जब दाड़ी निकल आए तब उसे साफ करना चाहिए। युद्ध अथवा यात्रा काल में क्षीर कर्म नहीं करना चाहिए।[4]

इसके पश्चात राज्यकृत्यों के अन्तर्गत नक्षत्र इत्यादि के पांच अंगों का वर्णन किया गया है। तिथि, नक्षत्र और दिन को सुनकर के ही धर्म, अर्थ, यज्ञ और सुख प्राप्त होता है। निरोगता तथा आयु को बढ़ाने वाले विजय के लिए बुरे सपनों का नाश करने के लिए कर्म करना चाहिए।[5] नीलकण्ड भट्ट ने दुख और सपनों की शांति के संबंध में आचार्य मयूख का उद्धरण देते हुए कहा है कि गुरू तथा देवताओं को पहले प्रणाम करके, बाह्मण के लिए बछड़े से युक्त गाय को दान करके दर्पण और घी में मुंह देखकर राजा को सोने व घी का दान देना चाहिए।[6]

पर्व आदि पर भूदान (पृथ्वी का दान) तथा पुस्तक दान आदि करने के संबंध में याज्ञवल्क्य स्मृति का उद्धरण देते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि राजा भूमि देकर या उसका निर्धारण भावी (भविष्य के) साधु वृत्ति वाले राजाओं के ज्ञान के लिए लिखवा दें।[7]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 51
2. वही वही
3. वही वही
4. वही वही
5. वही वही
6. वही पृष्ठ 51 –52
7. वही पृष्ठ 52

धार्मिक लेख के विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि कपास आदि के वस्त्र या ताम्रपट्ट पर अपनी मुद्रा (मुहर) अंकित करके राजा अपने वंश के पूर्व पुरूषों के नाम, दान की वस्तु की मात्रा और (खेत आदि हो तो) चौहद्दी का विवरण लिखावें, तत्पश्चात अपने हाथ से पितनाम सहित अपना नाम एवं तिथि लिखकर उस दान को पुष्ट (प्रमाणिक) बनावें।[1] तथा राजा को उचित समय पर अपने हाथ से शक, वर्ष, माह, पक्ष और दिन लिखकर संधि विग्रह संबंधी कार्य करने चाहिए। संधि और विग्रह करने वाला तथा जो उसका लेखक है उसे राजा से आदेश प्राप्त कर राजशास्त्र के संबंध में लिखना चाहिए।[2]

नीलकण्ठ भट्ट ने वृहतसंहिता का उद्धरण देते हुए बताया है कि राजा को उक्त कृत्यों के संपन्न करने के पश्चात सभा (राज सभा) में प्रवेश करना चाहिए तथा सभा में प्रवेश करते समय राजा को मुस्कराते हुए, प्रसन्नतापूर्वक प्रथम वाणी ही मधुर निकालते हए, कृपापूर्वक कर संग्रह करते हुए, यथानुकूल शत्रु के हृदय को भी प्रसन्न करते हुए, धर्म सभा का आश्रय लेना चाहिए। और वहां पर (सभा भवन में दर्शनार्थ) स्थित प्रजा को (यथायोग्य किसी को भाषण से, किसी को प्रदर्शन से) संतुष्ट कर विसर्जित करें सम्पूर्ण प्रजा को विसर्जित कर मंत्रियों के साथ मंत्रणा (गुप्त परामर्श) करें।[3] राजा को दण्ड योग्य व्यक्ति को ही दण्डित करना चाहिए क्योंकि दुर्जन व्यक्तियों को ही दण्ड प्रभावित करता है तथा मैं (राजा) क्षमाशील हूं ऐसा सोचकर दण्ड पाने (देने) वाले व्यक्ति को दण्ड न देना राजा का धर्म नहीं है। यदि राजा क्षमायुक्त (क्षमाशील) हो जाय तो दुष्टों का अभिमान अत्यधिक बढ़ जाता है। इसलिए राजा को दुष्टों के साथ उग्र व्यवहार करना चाहिए, जिससे कि दूसरे व्यक्ति भी उनकी तरह दुष्ट न हो जाएं, अतः राजा को चाहिए कि दुष्टों को दण्ड दें, जिससे कि आगे चलकर वह दुष्ट कर्म न करें।[4]

दण्ड युक्त व्यक्ति को दण्डित न करके राजा का जो अनिष्ट होता है उसका उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जो राजा दण्ड युक्त व्यक्ति को दण्डित नहीं करता वह राज्य और अपने अनिष्ट को निमंत्रण देता है।

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 52
2. वही वही
3. वही वही
4. वही पृष्ठ 52–53

चतुर्थ अध्याय

नीलकण्ठ भट्ट के राजपुत्र–अमात्य–सुहृद –पुरोहित –चर – दूत – राजसेवक – कोश एवं राष्ट्र संबंधी विचार

राजपुत्र (युवराज) के कर्तव्य

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट के समकालीन व पूर्ववर्ती सभी राज शास्त्र प्रणेताओं ने राज्य के संचालन के लिए राज कर्मचारियों में राजा के बाद युवराज (राजपुत्र या राजकुमार) एक बहुत ही महत्वपूर्ण पद माना है। युवराज राजा के ज्येष्ठ पुत्र और शासित राजा के बाद राज्य का उत्तराधि ाकारी होता है। शासन का व्यवहारिक अनुभव प्राप्त करने के लिए राजा की ही तरह ही विधिवत रूप से युवराज का भी राज्याभिषेक किया जाता है। युवराज का उल्लेख सामान्यतः मंत्रियों की सूची में नही मिलता, किन्तु वह 18 तीर्थों में एक है।

कामन्दकीय नीतिसार को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने युवराज के पद के महत्व को स्वीकार करते हुए बताया है कि ' अमात्य और युवराज यह दोनों ही राजा की भुजा हैं।''[1]

शुक का कहना है कि 'युवराज एवं अमात्य दल राजा के दो वाहु या आंखे हैं।'[2]

राजपुत्र के कर्तव्य –

नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिसार को उद्घृत करते हए राज्यपुत्रों के कृत्यों के प्रकारों का उल्लेख करते हुए बताया है कि युवराज हमेशा वाणी और मन से तथा शरीर से पितृ सेवा में लगा रहे ओर उन कार्यों को भी न करे जिससे पिता को थोड़ा सा भी दुःख हो।3 जिस कार्य से पिता प्रसन्न हो, उस कार्य में ही युवराज (राजपुत्र) को संलग्न रहना चाहिए, जिस कार्य से पिता का द्वेष हो, उससे वह स्वयं भी द्वेष करें, पिता की असम्मति के विरूद्ध कोई कार्य न करें। इस प्रकार राजपुत्र युवराज के पद को प्राप्त करके कभी भी अपने मन में विकार उत्पन्न न करें। अपनी राज सम्पत्ति के अभिमान में आकर के माता–पिता, भाई– बहिन, अन्य राजसेवकों, महापुरूषों को अपमानित न करें और न किसी प्रकार की पीड़ा पहुंचाए। युवराज पद को प्राप्त करके पिता की आज्ञा के अनुसार कार्य करना चाहिए। क्योंकि पुत्र के लिए पिता की आज्ञा ही श्रेष्ठतम आभूषण कहा गया है। अपने द्वारा पालित व्यक्तियों (प्रजा) के साथ (प्रति) किसी प्रकार के आधिक्य

---

1. नीतिमयूखः पृष्ठ 70 2. शुकनीति : 2/12
3. नीतिमयूख : पृ0 70

(अतिक्रमण) का प्रदर्शन न करें, क्योंकि भाइयों के अपमान से बहुत से लोग नष्ट हो चुके हैं। पिता की आज्ञा के उल्लंघन से उत्तम पद को प्राप्त करके भी उस पद से अलग होकर राजपुत्र संसार में दास, सेवक की भांति जीवित रहते हैं। इस प्रकार अपने परिवार के विरोध से वंचित होकर राजपुत्र घर में ही निवास करे तथा शक्ति से संपन्न होकर त्यागपूर्वक सबको अपने वश में रखे और धीरे धीरे शुक्ल पक्ष के चन्द्र की भांति गद्दी को प्राप्त करे। इस प्रकार राजपुत्र सब प्रकार के विरोध ों से रहित होकर अकंटक राज्य को प्राप्त करके, तथा अपने महामंत्रियों से सहायता लेते हुए पृथ्वी का बहुत दिन तक भोग करता रहे।[1]

आचार्य कौटिल्य ने युवराज (राजपुत्र) के कृत्यों का उल्लेख करते हुए बताया है कि राज्य के विद्रोही अधिकारी को दबाने के लिए तथा दूसरे राज्य पर आक्रमण करने के लिए सेनानायक के रूप में युवराज को भेजा जा सकता है।[2]

राजपुत्र की सुरक्षा– नीलकण्ठ भट्ट ने कामन्दक के समान ही राजपुत्र (युवराज) के कृत्यों के साथ–साथ युवराज की सुरक्षा व्यवस्था पर विशेष बल देते हुए कहा है कि प्रजा और अपने कल्याण के निमित्त राजा अपने पुत्र की रक्षा करे, क्योंकि यदि राजपुत्र सुरक्षित न रखे गए, तो वही अर्थी (लोभ) में क्षुब्ध होकर राजा को मार डालते हैं। मदोन्मन्त राजपुत्रों की अनेक विषयों की प्रार्थना (सामान्य) से राज्य की रक्षा बड़ी कठिनाई से होती है, जैसे व्याघ्र से सूंघे मांस की व्याघ्र के होते रक्षा नहीं हो सकती। रक्षित राजपुत्र यदि किसी प्रकार से किसी छिद्र (बुराई) को देख लेते हैं तो सिंह के बच्चों के समान निःसंदेह अपने रक्षक को भी मार डालते हैं। अतः राजा अपने पुत्रों को विनय (नम्रता) सिखावे। यदि कुमार विनीत न होगा तो वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाएगा। राजा को अपने नम औरस पुत्र को जो सवर्ण भार्या से उत्पन्न हुआ हो का राज्याभिषेक करना चाहिएं यदि राजपुत्र (युवराज) दुर्विनीत हो तो जिस प्रकार दुष्ट हाथी को बन्धन में करते हैं, उसी प्रकार उसको भी सुख बंधन में डालें, जिससे वह कठिनाई न माने। राजपुत्र का पालन–पोषण प्यार के साथ करके, उसको गुणों से विभूषित करना चाहिए तथा अर्थशास्त्र की शिक्षा देनी चाहिए, जिससे कि पुत्र विनम्र हो जाए।[3]

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 71 2. धर्मशास्त्र का इतिहास : डॉ0 पी.वी. काणे : पृष्ठ 630
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 71

डॉ0 पी.वी. काणे ने भी नीलकण्ठ भट्ट व कामन्दक के समान ही राजपुत्र की सुरक्षा के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि यदि राजकुमार अविनीत हो तो उसे त्यागना नहीं चाहिए, नहीं तो वह शत्रुओं (विरोधी राजाओं) से मिल जाएगा। इसलिए उसे एक सुरक्षित स्थान पर बन्दी बनाकर रखना चाहिए।

राजपुत्र की दुवृन्ति – नीलकण्ठ भट्ट नीतिसार को दृष्टांतित कर युवराज (राजपुत्र) के पद एवं सुरक्षा व्यवस्था के महत्व का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि राजा को दुवृत्ति वाले राजपुत्र का त्याग नही करना चाहिए। यदि वह निकाला जाएगा तो वह क्लेशित होकर शत्रु का आश्रय कर पिता को मार देगा। यदि राजपुत्र व्यसनग्रस्त हो तो व्यसन के आश्रयी भूत पुरूषों द्वारा राजपुत्रों को क्लेशित करावे जिससे कि वह व्यसनमुक्त हो जाए।

मंत्रिपरिषद् (मंत्रिमण्डल) के विकास की परम्पराः-

प्राचीन भारत में वैदिक काल से ही संवैधानिक राज्य का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है।[1] डॉ0 काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार हिन्दू –मंत्रिपरिषद का विकास वैदिक युग की प्राचीन राष्ट्रीय सभा से हुआ है।[2] शामशास्त्री का मत है कि वैदिक कालीन शासन के दो महत्वपूर्ण अंग सभा और राजा थे।[3] अथर्ववेद में सभा का उल्लेख भी मिलता है।[4] एन0एन0 लॉ के अनुसार " प्रशासनिक तंत्र के एक अंग के रूप में परिषद का उद्‌भव अतिप्राचीन काल में हो चुका था। इस संथा के अस्तित्व का संकेत देने वाले शब्दों की अति–प्राचीन संस्कृत साहित्य में भरमार है। इनमें से सभा, समिति, संगति, विदथ, परिषद आदि का उल्लेख किया जा सकता है।[5] बन्धेपाध्याय ने अथर्ववेद से अनेक उद्धरण देकर सभा और समिति का उल्लेख किया है।[6] डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय का मत है कि वैदिककाल में राजा की मंत्रिपरिषद का श्रोत वैदिक संहिताओं में वर्णित "राज्यकर्ता" या "रत्निम" नामक विशिष्ट व्यक्ति थे।[7] किन्तु कालान्तर में वैदिक यज्ञों का प्रचार घटने से धीरे धीरे रत्निन वर्ग का भी अन्त हो गया। धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों से ज्ञात होता है कि रत्निन का स्थान एक और भी प्रभावशाली संस्था ने ग्रहण कर लिया। यह "मंत्रि" या "अमात्य" अथवा "सचिव" परिषद थी।[8] कामन्दकीयनीतिसार में मंत्रियों का स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है।

---

1. डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : वेदकालीन राज्य–व्यवस्था, पृष्ठ –7
2. डॉ0 काशीप्रसाद जायसवाल : हिन्दू राज्यतंत्र दूसरा खण्ड, पृष्ठ –113
3. आर0 शामशास्त्री : इवोल्यूशन ऑफ इण्डियन पॉजिटी, पृष्ठ –87
4. एन0 जे0 सेन्डे : दि रिलीजन एण्ड फिलॉस्फी ऑफ द अथर्ववेद, पृष्ठ –75–76
5. एन0एन0 लॉ : आस्पेक्ट्स ऑफ एंशियेन्ट पॉलिटी, पृष्ठ – 24
6. एन0सी0 बन्धोपाध्याय : डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू पॉलिटी एण्ड पॉलिटीकल ययोरीज, पृष्ठ –109
7. डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : वेदकालीन राज्य–व्यवस्था, पृष्ठ 119
8. डॉ0 ए0एस0 अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ 119

मंत्रिमण्डल की आवश्यकता एवं उपयोगिता –

आधुनिक काल में प्रचलित प्रत्येक शासन प्रणाली चाहे वह राजतंत्र हो या गणतंत्र हो या एकाकी राज्य में परिषद अर्थात मंत्रिमण्डल का होना नितान्त आवश्यक माना गया है। जितना सशक्त व प्रभावशाली मंत्रिमण्डल होगा, उतना ही वह राज्य स्थिर संपन्न व समृद्ध होगा। किसी देश की सुव्यवस्था व स्थिरता सुयोग्य मंत्रियों पर ही निर्भर है। इसलिए प्राचीन काल से ही भारतीय शासन संचालन प्रणाली में मंत्रिपरिषद का होना अनिवार्य माना गया है। प्रायः प्राचीन ग्रंथ के रचयिताओं ने मंत्री को राज्य के सप्तांगों में द्वितीय स्थान प्रदान कर मंत्रियों की महत्ता व उपयोगिता को स्वीकारा है।

अर्वाचीन काल में राज्य के निर्माण हेतु चार तत्व निश्चित भू–भाग, जनसंख्या, राजनीतिक संगठन और संप्रभुता अनिवार्य माने गए हैं। राज्य का अस्तित्व इन चारों तत्वों पर निर्भर है। इनमें से एक भी तत्व का अभाव होने पर राज्य नष्ट हो जाएगा। परन्तु कामन्दक राज्य के सात अंग मानते हैं। उनके मतानुसार राज्य के ये सात अंग–स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल, सुहृद है। उनका मत है यह सभी सात अंग परस्पर उपकारी है। राज्य इन सात तत्वों के संयोग का परिणाम है। इन अंगों में से एक अंग का अभाव राज्य के अस्तित्व को समाप्त कर देता है और इनके सुचारू रूप से कार्य करने में ही राज्य की स्थिति निहित है।

मामांसाकार नीलकण्ठ भट्ट ने भी मंत्रिमण्डल को राज्य व्यवस्था का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग माना है। राजव्यवस्था ठीक रखने में राजा को सहायता प्रदान करता है, वह अमात्य कहलाता है। इस प्रकार वह राजा राजकार्य में परामर्श देने के लिए और राज्य के कार्य ठीक प्रकार से संचालित एवं उचित नीति निर्धारित करने के लिए मंत्रिपरिषद को अनिवार्य संस्था स्वीकार करते हैं। मनु, कौटिल्य, शुक, कामन्दक व सोमदेव सूरि ने भी इसके स्वरूप पर विशेष बल दिया है। उदाहरणार्थ – मनु का कथन है कि साधारण फिर राजकार्य भी एक व्यक्ति के लिए करना कठिन है फिर राजकार्य जो बहुत ही गुरूतर है, बिना दूसरों की सहायता के कैसे संपन्न किया जा सकता है।

आचार्य कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र के पहले अधिकरण में मंत्रिपरिषद का सविस्तार वर्णन किया है– राजा कितना ही कर्मठ, परिश्रमी, चतुर व बुद्धिमान क्यों न हो, वह सारा राजकाल स्वयं नहीं कर सकता उसे अपनी सहायता के लिये बुद्धिमान व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार कौटिल्य मंत्रिपरिषद की अनिवार्यता को सिद्ध करने के लिए राजा और

मंत्री की तुलना रथ के दो पहियों से करते हुए कहते हैं कि राजस्व (राजकाज) भी सहायकों की सहायता से संभव है। जिस प्रकार एक चक्र के बिना रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार बिना मंत्रियों की सहायता के राजा से राज्य नहीं चल सकता।[1]

आचार्य शुक्र ने भी मंत्रिपरिषद के अभाव में अपंग पुरुष की भांति राजा को स्वकर्तव्य पालन में असफल मानते हुए मत व्यक्त किया है कि – कार्य छोटे से छोटा क्यों न हो परन्तु अकेले मनुष्य के द्वारा उसका सम्पादन नहीं हो सकता। फिर असहाय पुरुष विशाल राज्य के संचालन को कैसे कर सकता है।[2]

नीतिसार में मंत्री को राजा के नेत्र की उपाधि दी गई है।[3]

भीष्म ने भी स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया है कि राज्य का मूल राजा मंत्रियों द्वारा दी गई सद्मंत्रणा ही होती है।[4]

आचार्य सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत के अमात्य समुद्देश और मंत्रिसमुद्देश में मंत्रियों की महत्ता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जैसे ईंधन होते हुए बिना हवा के आग नहीं जलती, एक पहिए से रथ नही चलता, उसी प्रकार बलिष्ठ व सुयोग्य अकेला राजा भी राज्य शासन करने में समर्थ नहीं हो सकता।[5] इसी कारण उन्होंने लिखा है कि राजा प्रत्येक कार्य का आरंभ तद्विषयक मंत्र निर्णय कर लेने के उपरान्त कार्य करे। जो राजा अपने मंत्रियों की अवहेलना करेगा वह शत्रुओं से पराभूत होगा। इस प्रकार आचार्य सोमदेव ने मंत्रि को राजा का हृदय माना है।[6]

आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने मंत्रियों से अमात्यों की श्रेष्ठता को मानते हुए "अमात्य और युवराज यह दोनों राजा की भुजा हैं। "ऐसा कहा है।[7]

---

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र , 1, 7
2. शुक्रनीति, अध्याय 2, पृ0 31
3. कामन्दकनीति श्लोक 67 सर्ग 17
4. शांतिपर्व, अध्याय 84, पृ0 4643
5. नीतिवाक्यामृत 187 अमाव्य समुद्देश्य
6. वही (10) वही
7. नीतिमयूख पृ0 60

विष्णु धर्मोन्तर (2/24/2–3), शान्तिपर्व (106/11), राजनीति प्रकाश (पृ0 174), अर्थशास्त्र (1/7–8), मनु (6–54 एवं 60), कामन्दक (4/25, 26, 13/24 एवं 64) ने सचिव व अमात्य शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त किए हैं।[1]

आचार्य कौटिल्य ने भी अमात्य व मंत्रियों में अन्तर बताया हैं, वह मंत्रियों को अमात्यों की अपेक्षा अधिक उच्च पदाधिकारी मानते हैं।[2]

अमात्यों के प्रकार – महाभारत को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने गुण एवं दोषों के आधार पर उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार के अमात्य बतलाए हैं।[3] जो मंत्रियों के साथ रहकर प्रजाहित के कार्यों में लगा रहता है, आय और व्यय के संबंध में निश्चित मत प्राप्त करके कार्य करता है, माता–पिता तथा भाइयों के साथ समान रूप से आनंदित होकर के मंत्रणापूर्वक अपने कार्यों को सम्पादित करता है। प्रत्येक कार्य में धैर्य का परिचय देता है, ऐसे पुरूष को ही उत्तम अमात्य कहा गया है।[4] जो एक ही विषय पर सोचता है, एक ही धर्म के प्रति अपने विचारों को एकाग्र करता है तथा एक ही कार्य को करता है उसे मध्यम अमात्य कहा गया है।[5] जो गुण तथा दोषों पर विचार न करके अनिश्चय की स्थिति में रहकर के, भाग्यबल पर आश्रित होकर के कार्य करने के लिए विचार करता है तथा जो कार्यों की उपेक्षा करता है वह अधम अमात्य कहलाता है।[6]

अमात्य संख्या

मंत्रिपरिषद की सदस्य संख्या के विषय में प्राचीन भारत के राजशास्त्र विचारक एक मत नही हैं। सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने मंत्रिपरिषद एवं अमात्यों की अलग अलग संख्या (निर्धारित की है) बतलायी है।

---

1. अयोध्या काण्ड : (1/2/17)
2. अर्थशास्त्र : (1/8)
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 72
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 72
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 72
6. नीतिमयूख : पृष्ठ 72

अमात्य संख्या के विषय में नीलकण्ठ ने मनु को उद्घृत कर कहा है कि (राजा) वंशाक्रमानुगत, शास्त्रज्ञाता, सूर–बीर, निशान मारने वाले (शस्त्र चलाने में निपुण), उत्तम वंश में उत्तम और परीक्षित (शपथ ग्रहण आदि से परीक्षा किए गए) सात या आठ मंत्रियों को नियुक्त करें।

भीष्म के अनुसार मंत्रिपरिषद में 37 सदस्य होने चाहिए।[2]

आचार्य कौटिल्य ने भी बताया है कि राजा को तीन अथवा चार मंत्रियों से मंत्रणा लेनी चाहिए।[3]

कामन्दक के मतानुसार मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए।[4]

सोमदेव सूरि ने अमात्य एवं मंत्रिपरिषद की संख्या का उल्लेख करते हुए बताया है कि मंत्रिपरिषद में तीन, पांच, अथवा सात मंत्री होने चाहिए।[5]

चण्डेश्वर ने भी मंत्री संख्या के विषय में स्पष्ट व्यवस्था दी है कि राजा को बहुत से व्यक्तियों से मंत्रणा नहीं करनी चाहिए।[6]

मित्र मिश्र ने राजा के लिए सात अथवा पांच अमात्य रखने की अनुमति दी है।[7] तथा राजनीतिक निबन्धकार लक्ष्मीघर भट्ट ने भी सात अथवा आठ अमात्यों (मंत्रियों) के रखने की व्यवस्था दी है।[8]

---

1. नीतिमयूख : पृ0 72
2. शांतिपर्व 7 से 11 तक / 85
3. अर्थ0 अध्याय 1, अधि0 15, वार्ता 37
4. कामन्दक नीति, सर्ग, 11, श्लोक 68
5. नीतिवाक्यामृत वार्ता, 70, समु0 10
6. राजनीतिरत्नाकर, अमात्य निरूपण तरंग,
7. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, :डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय, पृष्ठ 401
8. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, : डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय, पृष्ठ 354

अमात्य गुण–

नीतिसार को उद्धृत कर अमात्यों के गुणों का उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ ने कहा है कि कुलीन, पवित्र, शूरशास्त्र संपन्न, दण्डनीति के यथायोग्य प्रयोग करने वाले राजा के मंत्री होने चाहिए।[1] तथा स्मृति अर्थात कर्तव्य कर्मों का स्मरण रखना, योग्यता से धनादि उपार्जन करने में तत्पर, तर्कहितता, ज्ञान में निश्चय दृढ़ता और मंत्र का गुप्त राख्ना यह सभी मंत्री की संपदा कहीं हैं। जिस समय राजा अकार्य में प्रवृत्त हो तब मंत्रियों को उसको निवारण करना चाहिए और राजा को भी आवश्यक रूप से गुरुजन और मंत्रीजनों के वचनों को मानना चाहिए।[2]

मनु के अनुसार अमात्य के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक वं आत्मिक विकास की जानकारी के लिए उसकी परीक्षा शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान, शूरता, कार्यकुशलता एवं दृढ़ संकल्प, कुलीन तथा परम्परागात राजसेवी वंश में उत्पन्न होना आदि योग्यताएं आवश्यक हैं।[3]

भीष्म के अनुसार अमात्यों की योग्यताएं कुलीन कुल में उत्पन्न होना, अमात्य वंश में जन्म, राज्य का निवासी होना, लोकप्रिय होना, आयुष्मान होना और भद्र चरित्र का धारण करना आदि है।[4]

आचार्य कोटिल्य ने अमात्य के लिए योग्यताएं इस प्रकार बतलायी हैं। 'अपने ही जनपद और उत्तम कुल में उत्पन्न उत्तम बन्धु–बान्धवों से सम्पन्न, शिल्प विद्या में कुशल, तीव्र दृष्टि युक्त, विद्वान, स्मृतिवार, चतुर, वक्ता, प्रगल्भ, कुशल प्रबन्धक, उत्साही, प्रभावशाली, क्लेशसहन करने में समर्थ, पवित्र स्नेही, दृढ़ भक्ति युक्त, शील बल, आरोग्य तथा सर्वसंपन्न, जड़ता तथा चपलता रहित, सर्वप्रिय होना एवं व्यर्थ वैर न करना आदिं।[5]

शुक्र ने अमात्य के लिए योग्यता– कुलीन वंश में उत्पन्न आयुवान (वृद्ध), राजभक्ति, उच्च चरित्र धारण करना बताई है।[6]

---

1. नीतिमयूख पृ. 72
2. नीतिमयूख पृ. 72
3. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, : डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय, पृष्ठ 32
4. शांतिपर्व 3, 8, 11, 43, 46/88
5. अर्थशास्त्र, वार्ता 1, अधि0 9, अध्याय 1
6. शुक्रनीति, श्लोक 8, 9, 10 अध्याय 2

सोमदेव सूरि ने अमात्य के लिए योग्यता–राजयजन्मा, आचार, शुद्धि, अभिजन विशुद्धि, अव्यसनशीलता, व्यभिचार विशुद्धि, व्यवहार तंत्रज्ञता, अस्त्रज्ञता तथा उपधा विशुद्धि बतलाई है।[1]

राजधर्म निबन्धकार लक्ष्मीधर भट्ट, चण्डेश्वर, मित्र मिश्र ने भी अमात्य पद के लिए वे ही योग्यताएं निर्धारित की हैं जो कि मनु याज्ञवल्क्य, शंख, कात्यायन, पाराशर व महाभारतकार ने निध ारित की हैं।[2]

सुहृद : (मित्र)

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं व स्मृतिकारों का मत है कि जो राजा या राष्ट्र दूसरे राजा या राष्ट्र के सुखःदुख में अथवा सम्पत् विपत दोनों में स्नेह करें वही सुहृद व मित्र कहलाता है। इस प्रकार नीलकण्ठ भट्ट ने भी कामन्दक के समान ही सुहृद (मित्र) के लक्षण तथा गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि "राजा के जो सुहृद हैं, वे ही उसके गुरु हैं जो उस राजा को कुमार्ग में चलते ही रोक देते हैं और आप (स्वयं) भी उसके भय से सदुपदेश से निवृत्त नहीं होते। जो सुहृद अकार्य में लगे हुए राजा को निवारण करते हैं, वे ही सुहृद (सच्चे) सत्य सुहृद हैं और गुरु के गुरु हैं। विद्वान भी बलिष्ठ प्रेम राग में निश्चय ही अनुरक्त हो जाता है, और प्रेम में चित्त अनुरक्त होने से कौन सा अयोग्य कर्म नहीं किया जाता है।[3] तथा त्याग, विश्वास और सर्वसम्पन्न मित्र के महापक्ष को ग्रहण किए, प्रियवादी, आने वाले समय के जानने में समर्थ, अव्यभिचारी, सत्कुल में उत्पन्न मित्र ही अपने प्राणों के निर्मोह को दिखाता हैं। धर्म अर्थ और काम का संयोग यह तीन प्रकार से मित्रों के संग्रह का फल है, जिसमें यह तीनों न हों बुद्धिमान उसका सेवन न करें। पवित्रता, त्याग, शूरता, सुःख–दुःख में समानता अनुराग और दक्षता तथा सत्यता यह सुहृदों के गुण हैं और मित्र के निमित्त अनुराग यह संक्षेप में मित्र के लक्षण हैं, जिसमें यह बातें न हों वह मित्र नहीं है उसमें अपनी आत्मा को अर्पण न करें।[4]

---

1. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय, पृष्ठ 304,5,6,7,
2. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय, पृष्ठ 354, 375, 401
3. नीतिमयूख पृ0 73
4. नीतिमयूख पृ0 73

नीलकण्ठ भट्ट ने पुनः कहा है कि राजा सब अवस्था में प्रायः मित्र ही करता है, बहुत मित्र वाला ही शत्रुओं को अपने वश में कर सकता है। जहां पुरुषों के आपत्ति आने पर उसके दूर करने में सनमित्र उपस्थित रहता है उस स्थान में भ्राता, पिता व और कोई जन उपस्थित नहीं हो सकता। दृढ़ प्रतिज्ञा वाले मित्रों से अमित्रों से रक्षा करता हुआ उसको ग्रहण न करें।[1]

मनु ने भी मित्र बनाने की आवश्यकता पर बहुत बल दिया है और राजा के लिए अच्छे मित्र (सुहृद) के गुणों का वर्णन किया है– राजा सोना एवं भूमि पाकर इतना समृद्धिशाली नही होता जितना कि अटल मित्र पाकर, भले ही वह मित्र कम धन (कोश) वाला हो, क्योंकि भविष्य में वह शक्तिशाली हो जाएगा। एक दुर्बल मित्र भी सराहनीय है यदि वह गुणवान एवं कृतज्ञ हो, उसकी प्रजा संतुष्ट हो और वह अपने हाथ में लिए हुए कार्य को अन्त तक करने वाला अथवा दृढ़ प्रतिज्ञा हो।[2] मनु के मत से 'भूमि, सोना (हिरण्य) एवं मित्र' राजा की नीति या प्रयत्नों के तीन फल हैं।[3]

याज्ञवल्क्य ने भी मनु की बात को स्वीकार किया है।[4]

भीष्म ने शान्तिपर्व में उल्लेख किया है कि कोई भी किसी का न मित्र है न शत्रु, मित्र एवं शत्रु (या किसी व्यक्ति द्वारा किए जाते हुए कर्मों या ध्येयों) द्वारा प्राप्त किए जाते हैं।[5]

यही बात कामन्दक ने भी कही है।[6]

भीष्म ने मित्र चार प्रकार के बतलाए हैं – (1) सामान्य ध्येय वाले, (2) शरण एवं सुरक्षा चाहने वाले (3) स्वभाव से ही जो सुहृद हैं (सहज) तथा (4) वे जो प्राप्त किए जाते हैं (कृत्रिम) 7

---

1. नीतिमयूख पृ. 73
2. मनु (7/208)
3. मनु (7/206)
4. याज्ञवल्क्य (1/352)
5. शान्तिपर्व (138/110)
6. नीतिसार (8/52)
7. शांतिपूर्व (80/3)

सुहृद के कामन्दक के मत से चार प्रकार ये हैं–

(1) औरस अर्थात जन्मजात (यथा) माता–पिता, नाना–नानी आदि (2) कृतसम्बन्ध विवाह संबंधा से उत्पन्न (3) वंशाक्रमागत पिता के मित्र एवं (4) रक्षित अर्थात विपत्तियों में जिनकी रक्षा की गई है।[1]

कामन्दक के अनुसार मित्र (सुहृद) राजा के गुण ये हैं–

हृदय की पवित्रता (स्वच्छता) उदारता, वीरता, सुख दुख में साथ देना, प्रेम (मित्र का कार्य संपन्न करने में, जागरूकता, सच्चाई।[2] सच्चे मित्र की विशेषता है कि मित्र द्वारा वांछित उद्देश्यों के प्रति श्रद्धा। मित्र बनाने का उद्देश्य होता है कर्म, अर्थ एवं काम नामक तीन पुरुषार्थों में से किसी एक की प्राप्ति।[3]

पुरोहित–

पुरोहितों को राज्य का आधा अंश माना गया है। वैदिक काल से लेकर बाद तक उसका अस्तित्व पाया जाता है। उसे राष्ट्र का रक्षक कहा गया है। वह राजपरिवार और उसके धार्मिक अंश के अतिरिक्त लोकिक विषयों पर भी अपना मत देता था, वह राजा और प्रजा के बीच शक्ति का माध्यम था।[4] पुरोहित लोग चेष्टा से हृदय की बात समझने वाले और शकुन को जानने वाले होते थे। किसी प्रकार भी कोई बाधा उपस्थित होने पर पुरोहित उसके कारण का विचार करता था, क्योंकि बिना विचार किए हुए कार्यों की सिद्धि न तो इस लोक में होती है और न परलोक में होती है।[5] एक स्थान पर पुरोहित को दिव्य चक्षु और कार्य का ज्ञाता कहा गया है। पुरोहित सपनों का फल जानने वाला भी होता था। पुरोहित प्रमाण आदि के समय राजा के साथ रहता था तथा राजसभा में सम्मिलित स्थान पाता था। सामाजिक स्थलों पर सेनापति पुरोहित के साथ विचार–विमर्श करता था। मंगल कार्य के पहले पुरोहित राजा को आशीर्वाद देकर मंगल दृव्य धारण कर स्वस्ति वचन करता था। जब राजा क्रोधित होता था तो अनुकूल वचनों के द्वारा वह उसे शान्त करता था।[6] राजा जब इष्ट देवतादि के सिद्धि के लिए उपवासादि करता था तो पुरोहित भी उसका साथ देता था। शास्त्र पूजा और आशीर्वाद प्रदान करना पुरोहित के प्रधान कार्य थे और इन सबके

---

1. नीतिमयूख (4/74)
2. नीतिमयूख (4/75, 76)
3. नीतिमयूख (4/72)
4. ऋग्वेद 7/60/12
5. आदि पुराण 45/141
6. आदि पुराण 34/28

वह राजा को आनंदित करता था।[1] जो कुलीन, सदाचारी और छहवेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरक्त, छन्द व ज्योतिष) चारवेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद,अथर्ववेद व सामवेद अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोगे चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग), ज्योतिष निमिन्तज्ञान और दण्डनीति विद्या में प्रवीण हो एवं दैवी (उल्कापात, अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि) तथा मानुषी आपत्तियों के दूर करने में समर्थ तो, ऐसे विद्वान पुरुष को राजपुरोहित, राजगुरु बनाना चाहिए।[2] राज्य प्रशासन में मंत्री के बाद पुरोहित का स्थान होता है। पुरोहित राजा को धर्म और नीति के विषय में संकेत देता रहता है।

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ ने भी प्राचीन भारतय राजशास्त्र प्रणेताओं की तरह ही माना है कि पुरोहित राजा के सभी प्रकार के मंगल का कारण होता है। इसलिए राजा अपने एवं अपने राज्य की मंगल कामना हेतु राज्य पुरोहित की नियुक्ति अवश्य करें और इस प्रकार राजा का पुरोहित त्रयी विद्या, दण्डनीति में कुशल होना चाहिए व शान्तिक पौष्टिक कर्म अथर्वेद के अनुसार करने वाला, तिथि आदि का यथायोग्य जानने वाला, प्रश्न करने में चतुर, होरागणित के तत्व को जानने वाला, ज्योतिष शास्त्र के अर्थ का ज्ञाता, ज्योतिषी होना चाहिए।[3]

आचार्य कौटिल्य ने भी पुरोहित के गुणों की व्याख्या करते हुए कहा है, कि राजा को उसकी सम्मति का आदर उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार शिष्य गुरु की बात का, पुत्र पिता की बात का, नौकर स्वामी की बात का करता है।[4] 'युद्ध चलते समय प्रधानमंत्री एवं पुरोहित को चाहिए कि वे वेद मंत्रों एवं संस्कृत साहित्य के उद्धरणों द्वारा सैनिकों का उत्साहवर्धन करते रहें और मरने वालों के लिए दूसरे जन्म में अच्छे पुरुस्कारों की घोषणा करते रहें।[5] पुरोहित को अन्य गुणों के साथ ध नुर्वेद का जानकार, अस्त्र शास्त्र में निपुण, युद्ध के लिए सेना की टुकड़िया बनाने में दक्ष तथा प्रभावशाली धार्मिक बल वाला (जिससे वह शाप भी दे सके) होना चाहिए।[6]

कामन्दक के अनुसार पुरोहित को, वेदों, इतिहास, धर्मशास्त्र या दण्डनीति, ज्योतिष एवं भविष्यवाणी शास्त्र तथा अर्थवेद में पाए जाने वाले शान्तिक संस्कारों में पारंगत होना चाहिए,

उच्च कुल का होना चाहिए और शास्त्रों में वर्णित विधाओं व शुभ कर्मों में प्रवीण होना चाहिए।

---

1. आदि पुराण 30/120–121
2. नी. वा. 11/1
3. नीतिमयूख पृ0 72–73
4. अर्थशास्त्र (1/8)
5. अर्थशास्त्र (10/3)
6. शुक्रनीतिसार (2/78–80)

चर एवं उसकी उपयोगिता–

प्राचीन भारत के सभी राजशास्त्र विचारकों ने राजा का एक मात्र कर्तव्य प्रजारंजन व प्रजा परिपालन निर्धारित किया है। उसकी प्रत्येक क्रिया का उद्देश्य प्रजा का अत्यधिक कल्याण करना होना चाहिए। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राजा को अपनी प्रजा के दैनिक जीवन का पूर्ण ब्यौरा ठीक ठीक मिलना आवश्यक है। उसको इस विषय की सूचना हर समय मिलती रहनी चाहिए कि उसके द्वारा संचालित शासन व्यवस्था संबंधी योजनाओं का प्रभाव उसकी प्रजा पर किस प्रकार पड़ रहा है। उसके शासन कार्य में कोई त्रुटि तो नहीं हो रही है जिसके कारण उसके अधीन प्रजा को क्लेश हो रहा है, अथवा उसके राज्य में कोई ऐसे कर्मचारी तो नहीं है, जो राज्य में प्रजा के सुख व शांति में बाधा उत्पन्न कर रहे हों। इस प्रकार राजा को अपनी प्रजा के सुख दुख के कारणों का भली भांति ज्ञान होना चाहिए। ऐसे ही उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्राचीन भारत में चर व्यवस्था का सृजन तथा संगठन किया गया था।

चरों का महत्व केवल राज्यान्तर्गत क्रियाकलापों तक ही सीमित नहीं समझा गाया बल्कि परराज्यों के छिन्द्रान्वेषण, उनके गुप्त रहस्यों को जानने की दृष्टिसे भी चर व्यवस्था का महत्व प्रतिपादित किया गया है।

ऋग्वेद में उल्लेख है कि देवगण लोक के विषय की सूचना प्राप्त करने के लिए चर रखते हैं। चर इस लोक में सर्वत्र भ्रमण किया करते थे और प्राणियों को शुभागम कार्यो को देखते हुए उनका पूर्ण ब्यौरा रखते थे। इसके आधार पर चर लोग अपने स्वामी को तदनुसार सूचना दिया करते थे।[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक युग में आर्य राजा भी अपने अधीन प्रजा के सुखः दुख जानने के लिए चर रखते थे। चर हर समय अपने इस कर्तव्य पालन में व्यस्त रहते थे। इस प्रकार वेदकालीन आर्य राज्यों में चर– व्यवस्था का उदय हो गया था। वेदों में चर को स्पर्श नाम से संबोधित किया गया है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में वरुण देव अपने स्पर्श समूह से घिरे हुए वर्णित हैं।[2] इसके साथ ही यह भी निर्विवाद है कि इस विषय की आशा करना कि वैदिक युग में दूत एवं चर व्यवस्था का संगठन एवं उसका संचालन तत्संबंधी आधुनिक प्रणाली के समकक्ष रहा हो, भूल होगी। आधुनिक युग में दूत एवं चर व्यवस्था विशेष विकसित अवस्था को प्राप्त हो चुकी है। परन्तु यह सहस्त्रों वर्षों के अनुभव की देन है। वैदिक युग में ये संस्थाएं एवं तत्सम्बन्धी व्यवस्थाएं अपनी शैशवावस्था में थीं और इस प्रकार अविकसित या आंशिक विकसित अवस्था में ही रहीं। परन्तु वैदिक आर्यो के लिए यह कम गौरव की बात नहीं है कि आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व उन्होंने दूत और चर के महत्व एवं उनकी उपयोगिता को समझ लिया था, और इस आधार पर उन्होंने इन्हें समकालीन राज्यों में उचित स्थान दिया था।[3]

---

1. ऋग्वेद : 8/10/10
2. ऋग्वेद 13/25/1
3. डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : वेदकालीन राज्य– व्यवस्था पृष्ठ 109

नीलकंठ भट्ट के अनुसार गुप्तचरो का स्थान :

नीतिमयूख में नीलकण्ठ भट्ट ने भी अपने से पूर्ववर्ती अन्य सभी राज शास्त्र प्रणेताओं के समान ही गुप्तचरों को राज्य के राजा को सहायता देने के लिए महत्वपूर्ण स्थान दिया है।[1]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गुप्तचरों का स्थान :

कोटिल्य के अर्थशास्त्र में (गुप्तचरों) चरों का स्थान सर्वोच्च है। चरों या गुप्तचरों का एक मात्र उद्देश्य अपराधों का पता लगाना मात्र माना जाता है। इस प्रकार से राजनीति के क्षेत्र में गुप्तचरों की आवश्यकता इसलिए समझी गई कि जिससे शासन को प्रजा के कष्टों, क्लेशों और पीड़ाओं का पता लग सके। प्रजा की सुख शांति में बाधा उत्पन्न करने वालों और राजकीय नियमों के पालन करने, कराने में रोक लगाने वालों का दमन कैसे हो, इसकी सूचना राजा तक पहुंचाना, गुप्तचरों या चरों का प्रमुख कार्य था।[2]

कामन्दक के नीतिसार में गुप्तचरों का स्थान :

नीतिसार में भी कामन्दक ने राजा का प्रमुख कार्य प्रजा का परिपालन एवं प्रजा रंजन निर्धारित किया है। इस कर्तव्य के पालन हेतु राजा को अपने अधीन प्रजा के सुख दुखों के कारणों का बोध ा होना चाहिए। इस प्रकार के कार्यों का पता लगाने के लिए राजा कुछ इस प्रकार के कर्मचारियों की नियुक्ति करता है जो कि गुप्त रीति से प्रजा के मध्य होने वाली किसी भी प्रकार की प्रिय व अप्रिय घटनाओं को राजा तक पहुंचाते हैं। अतः जो व्यक्ति या कर्मचारी इस प्रकार के कार्य को करता है, उसको कामन्दक ने चर कहा है। चर को दूर तक पहुंचाने वाला राजा का चक्षु कहा है। राजा सो जाने पर भी चर (दूत) रूपी नेत्रों द्वारा दूर और समीप की सभी घटनाओं को देखता रहता है।[3]

---

1. नीतिमयूख पृ0 90
2. कौटिलीय अर्थशास्त्र : वाचस्पति गैरोला, पृ0 36
3. कामन्दक नीति, सर्ग 12, श्लोक 30

चरों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि जिस राजा के यहां गुप्तचर नहीं होते, उस पर स्वदेश व परदेश दोनों प्रकार के शत्रुओं द्वारा आक्रमण किया जाता है।[1]

इसी प्रसंग में सोमदेव ने आगे कहा है कि जिस प्रकार द्वारपाल के बिना धनाढ्य पुरुष का कल्याण नही है, उसी प्रकार गुप्तचरों के बिना राजा का भी कल्याण नही है।[2] अपने और पराए राज्य में जो नित्य घटनाएं होती रहती हैं तथा वहां की जनता के जीवन संबंधी जो क्रियाएं प्रकट एवं गुप्त रूप से चलती रहती हैं, उन सब की सूचना राजा तक पहुंचाना जिस राज कर्मचारी का कर्तव्य होता है, उसे चण्डेश्वर ने चर के नाम से संबोधित किया है।[3]

चर के भेद–

मामासक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिसार को उद्घृत कर अपने ग्रंथ नीतिमयूख में चरों का उल्लेख किया है। नीलकण्ठ भट्ट ने चरों के पद एवं कर्तव्यों की उपयोगिता के आधार पर चरों के दो प्रकार या दो भेद निर्धारित किए हैं। (1) अप्रकाश चर (2) प्रकाश चर।

1. अप्रकाश चर– जो चर तपस्वियों का भेष धारण किए हुए, धूर्त, व्यापार और शिल्प से आजीविका वाले दूत सब ओर सबका मन लेते हुए विचरण करें। अति सूक्ष्म सूत्र के प्रचार वाले छिद्र से भी सब विधान और चेष्टा जानें, दूत रूप नेत्रों वाला राजा सोता हुआ भी जागता है। तेजी से सूर्य के समान चेष्टाओं से पवन के समान, राजा लोक सम्मत दूतों से सब जगत को व्याप्त कर लें यह संचरण करने वाले हैं, इनको कोई नहीं जान सकता।[4]

2. प्रकाश चर– प्रकाश चरों की व्याख्या करते हुए आचार्य नीलकण्ठ ने कहा है कि जड़, मूक अंधे बहरे, षण्ड, किरात, बौने, कुबड़े तथा जो इस प्रकार का कार्य करने वाले हैं। भिक्षुक, चारण

---

1. नीतिवाक्यामृत : चर समुद्देश, पृष्ठ 162
2. नीतिवाक्यामृत : चर समुद्देश्य, पृष्ठ 162
3. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय, पृष्ठ 382
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 90

दास अनेक कार्य और काल के जानने वाले, अन्तःपुर की बातें बिना किसी के जाने सुन आवे। छत्र, चमर, धारी यान, वाहन (सवारी) के धारण करने वाले महामात्र, यह सब बाहर के समाचारों को जानै, तथा इसी प्रकार से दूसरों के भी (सूदा) अच्छी रसोई करने वाले, शैया करने में चतुर, थोड़ा व्यय करने वाले, श्रंगार करने वाले, भोजन कराने वाले, शरीर दबाने वाले, जल, ताम्बूल, फूल, गंध ा और भाषणों के देने वाले, तथा जो इस कार्य का अभ्यास किए हों, उनमें से यह ऊपर कहे हुए वश में करने चाहिए, दूसरे नही![1]

आचार्य कौटिल्य के अनुसार गुप्तचरों के भेद :

आचार्य कौटिल्य ने कार्य भेद से गुप्तचरों के (1) कापटिक (2) उदारिथत (3) गहयातिक (4) वैदेहक (5) तापस (6) सत्री (7) तीक्ष्ण (8) रसद (9) भिक्षु की आदि नौ भेद किए हैं।[2]

कामन्दक के अनुसार चरों के भेंद :

कामन्दक ने भी नीतिसार में तीक्ष्ण, प्रवृजिक, सत्री, विषद, तपस्वी, धूर्त, लिंगिंन, पण्यशिल्प, जीवी आदि नामों से विभिनन प्रकार के चरों का उल्लेख किया है।[3]

सोमदेव के अनुसार चरों के भेंद :

आचार्य सोमदेव ने विभिन्न प्रकार की वेश–भूषा तथा कार्यो के आधार पर (37) सैंतीस प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख किया है। सोमदेव के मतानुसार चर के मुख्य भेद कापटिक, उदास्थित, गृहपातिक, वैदेहिक, तापस, कितव, किरात, यमपट्टिक, आहितुण्डिक, शौण्डिक, शौभिक, पाटच्चर, विट, विदूषक, पीठभर्दक, नटनर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवक, गणक, शकुनिक, भिक्षक, ऐन्द्रिजालिक, नैमित्तिक, सूद, आशालिक, संवाहिक, तीक्ष्ण, क्रूर, रसद, जड़, मूक, बधिर, अन्ध, छद्म अनस्थ, आयियामी हैं।[4]

---

1. नीतिमयूख पृ. 91
2. अर्थशास्त्र अध्याय 11, अधीकरण 1 श्लोक 2
3. कामन्दक नीति, सर्ग 12 श्लोक 26, 34
4. नीतिवाक्यामृत, वार्ता 8, समुद्देश 14

दूत :

दूत की आवश्यकता एवं महत्व-

राज्य व्यवस्था के निर्माण के साथ ही उसके सुचारु रूप से संचालन के लिए दूत की आवश्यकता एवं महत्व को अनुभव किया गया है। प्राचीन भारत के सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य व्यवस्था के सम्यक संचालन एवं राजा के कर्तव्य पालन एवं सुरक्षा के लिए विश्वसनीय दूतों की उपादेयता को स्वीकारा है।

वैदिक संहिताओं में भी दूत पद की उपयोगिता एवं आवश्यकता के प्रमाण मिलते हैं। उस युग में दूत –पद वैदिक आर्यों में प्रतिष्ठित माना गया था। ऋग्वेद में दूत को यशस्वी कहकर सम्मानित किया गया है।[1] उत्तर वैदिक साहित्य में भी दूत की उपयोगिता के प्रमाण उपलब्ध हैं। सफल दूत असाध्य कायों को भी साध्य बनाने में समर्थ माना गया है। शतपथ ब्राह्मण के लिए प्रसंग में सफलत दूत की उपयोगिता को लक्षित करने के लिए कछ उपाख्यान दिए हैं। उनमें एक इस प्रकार है– देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। दोनों एक दूसरे पर आधिपत्य जमाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। उनके मध्य गायत्री रूप पृथ्वी उपस्थित हुई। देव और असुर दोनों जानते थे कि पृथ्वी जिस पक्ष में रहेगी वह ही विजय होगा। दोनों ने पृथ्वी को अपनी ओर करने के लिए पृथ्वी के पास अपने अपने दूत भेजे। देवों का दूत अग्नि और असुरों का दूत सह राक्षस हुआ। अग्नि दूत अपने कार्य में सफल हुआ। फलस्वरूप पृथ्वी देवों के पक्ष में आ गई। इस प्रकार देव विजयी हुए।[2] इसी प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण में एक और उपाख्यान दिया हुआ है जो इस प्रकार है किसी कारण कुपित होकर वाक् सिंहनी का रूप धारण कर देव और असुरों को पकड़ने लगी और उनका नाश करने में तत्पर हुई। देव और असुर दोनों ने उसे अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। दोनों ने इस कार्य हेतु अपने अपने दूत उसके पास भेजे। देवों का दूत अग्नि और असुरों का सह राक्षस हुआ। देवों का दूत अग्नि अपने कार्य में सफल हुआ और इस प्रकार वह वाक् को समझाकर देवों के पक्ष में ले आया।[3]

---

1. ऋग्वेद
2. शतपथ ब्राह्मण : 1/3/3/34
3. शतपथ ब्राह्मण : 22/1/5/3

राजा को राज्य को संचालन में सहयोग देने के लिए कुछ व्यक्ति (राजसवेक) होते हैं वे व्यक्ति अपने व्यवहार व कार्य सेवा से राजा के कृपा पात्र बन जाते हैं, तो ऐसे कृपा पात्र व्यक्तियों को दूत कहा जाता हैं कुछ व्यक्ति (राजसेवक) समयोपरान्त लोभी व स्वार्थी बन जाते हैं, तो वे राजकन्टक कहलाते हैं। अतः दूत व्यवस्था प्राचीन भारतीय राजनीति की एक विशेष कड़ी रही है। राजा अपने दूत मुख द्वारा बात किया करते हैं और अपने चर चक्षु द्वारा देखा करते हैं। राजा के सो जाने पर उसकी ये दोनों इन्द्रियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं।[1]

आचार्य सोमदेव ने दूतों को राजा का मुख माना है। उनका विचार है कि यूद्ध के पश्चात भी दूतों के द्वारा ही कार्य की सिद्धी होती है अर्थात संधि की बातें दूत के द्वारा होती हैं। वास्तविकता यह है कि राजाओं में संधि विग्रह आदि गुण पाए जाते हैं। वे दूतों के द्वारा ही संपन्न होते हैं।[2]

शत्रु देश के व्यवहार व शक्ति को दूतों द्वारा जाने बिना शक्तिशाली राजा अपने समान शक्ति होने पर भी आक्रमण करने पर अपनी मूर्खता से पराजित हो जाता है। "

रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, शुक्रनीति आदि ग्रंथों में भी दूत की आवश्यकता तथा महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

प्राचीन काल में पत्र व्यवहार न होने के कारणा दूत का विशेष महत्व था। आधुनिक युग में इस प्रथा का अत्याधिक महत्व है। वर्तमान समय में दूत कार्य इतना महत्वपूर्ण समझा जाता है कि विश्व के लगभग प्रत्येक सभ्य राज्यमें अन्य राज्यों के राजदूत स्थायी रूप से रहते है। पारस्परिक राज्यों में अपने–अपने दूतों को नियुक्त करके उन्हें स्थायी रूप से स्थापित करना इस युग की राजनीति के दैनिक कार्य का एक अंग मान लिया गया है।[3] उन्होंने इसलिए दूत को प्रकाशचर के नाम से सम्बोधित किया है । उन्होंने दूत को चर कीएक विशेष श्रेणी से परिगण्तिा किया है।

नीलकंठ भट्ट भी दूत की उपयोगिता एवं उसकी आवश्यकताओं को प्राचीन भारत के सभी राजशस्त्र प्रणेताओं के समान ही मानते हैं।[4] राजाओं के बीच एकदूसरे से बात करने का एक प्रधान साधन दूत माना गया है। तथा राजाओं के बीच संबंध स्थापित करने का साधन भी दूत ही माना है। अतः दूत प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है।

कौटिल्य के अनुसार दूत को राजा का मुख माना है। क्योंकि दूत रूपी मुख के द्वारा ही राजा लोग परस्पर बातें करते है।

---

1. ऋगवेद 2/106/10
2. दूतपर्व सर्व संध्यादयो गुणा इत्यवधायोकपेंच
3. डा० शंकरलाल पाण्डेय – कौटिल्य की राजव्यवस्था पृष्ठ 47
4. नीतिमयूख – पृष्ठ 89
5. अर्थशास्त्र – वार्ता 16, अध्याय 16, अधिकरण

दूत की योग्यताएं आचरण व व्यवहार -

दूत का पद विश्वसनीय व दायित्वपूर्ण बनाए रखने के लिए प्राचीन राजशास्त्रियों ने दूतों के लिए कुछ योग्यताएं निर्धारित की हैं।

आचार्य कामन्दक ने दूत के गुणों का विस्तृत वर्णन किया हैं। उन्होंने दूत को विशेष गुणी होना बताया हैं कामन्दक के विचारानुसार दूत कार्य में कुशल, वाचाल, तीव्र स्मरण शक्ति से युक्त योग्य वक्ता, अस्त्र शस्त्र संचालन में निपुण हों। अपने राजा की श्रेष्ठता कुल ऐश्वर्य का प्रभाव शत्रु राजा पर छोड़ने वाला, अपने राजा के विकारों को छिपाने वाला, स्वयं के मंतव्य को छिपाने की शक्ति रखने वाला हो।

आचार्य श्री के मतानुसार दूत शत्रु के अनिष्ट वचनों को सहने की क्षमता वाला हो तथा काम, क्रोध से अपने को दूर रखें। किसी दूसरे व्यक्ति को साथ न सोएं।

ऋग्वेद के अनुसार दूत मित्र, वरूण और अर्यमा के सदृश होना चाहिए। दूत मित्रदेव के समान प्राणी मात्र का हितैषी, वरूण के समान उदार और अर्यमा के समान न्यायाधिकारी होना चाहिए। ऋग्वेद में इसी प्रसंग में व्यवस्था दी गई है कि जो पुरुष इन गुणों से युक्त अपने दूत रखते हैं वे विजयी होते हैं। ऋग्वेद के इस प्रसंग के अनुसार दूत प्राणी मात्र का हितैषी, उदार तथा न्यायकारी होना चाहिए। ऋग्वेद में संकेत किया गया है कि दूत अग्नि के समान गृहपतियों एवं राष्ट्रवासियों में आनंद की वृद्धि करने वाला होना चाहिए।[1] इस संकेत के आधार पर ऋग्वेद के अनुसार दूत का आचरण व व्यवहार राष्ट्रवासियों एवं शासकवर्ग दोनों को आनंदित करने वाला चाहिए।[2]

ऋग्वेद के एक स्थल पर दूत के विशेष गुणों की ओर संकेत किया गया है वे हैं यथोक्त कथन और संदेश वहन करने एवं उसके प्रस्तुत करने में विलम्ब न करना ।[3] इसी प्रसंग में ऋग्वेद के एक मंत्र में दूत के लिए तन्द्रा रहित होना एक विशेष गुण निर्धारित किया गया है।[4]

---

1. ऋग्वेद : 4/36/1
2. ऋग्वेद : 5/36/1
3. ऋग्वेद : 8/43/5
4. ऋग्वेद : 5/10/7

इसीलिए दूत तन्द्रा त्यागी व्यक्ति होना चाहिए। उसे आलस्य प्रमाद, दीर्घसूत्रता आदि दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए, ऋग्वेद के एक अन्य स्थल पर श्रेष्ठ देत के कतिपय लक्षण इस प्रकार संकेत रूप में वर्णित है–दूत श्रेष्ठ व बलवान पुरूष होना चाहिए। उसे यथोक्तवादी तथा भ्राता तुल्य सहायक होना चाहिए, दूत निन्दारहित पुरुष तथा श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न व्यक्ति होना चाहिए।[1]

नीलकंठ के अनुसार दूत की योग्यतायें :

कामन्दक के समान ही नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख ने दूत की योग्यताएं वर्णित करते हुए कहा है कि ऐसे व्यक्ति को दूत बनाना चाहिए जो वाचाल, बात को याद रखने वाला, विशेष अस्त्र शस्त्र में पण्डित (कार्यपरायणता) आदि गुण हों। कार्य का अभ्यास किया हुआ व्यक्ति ही किसी राजा का दूत हो सकता है।[2]

मनु के अनुसार दूत की योग्यतायें :

मनुस्मृति में दूत की योग्यताएं वर्णित करे हुए कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति को दूत बनाना चाहिए जो सर्वशास्त्र विशारद हो, इंगित आकार और चेष्टा को जानने वाला हो, पवित्र आचरण वाला हो, दक्ष हो, उत्तम कुल में उत्पन्न हो, राज्य में अनुरक्त, स्मरण शक्ति से संपन्न हो, सुन्दर शरीर से युक्त हो, निर्भीक हो, समस्त शास्त्रों में निपुण हो, बोलने में भी चतुर हो।[2] मनु के अनुसार दूत बहुश्रुत, आन्तरिक भावों को जानने की क्षमता रखने वाला होना चाहिए।

महाभारत के अनुसार दूत को कुलीन, शीलवान, सुवक्ता, दक्ष, प्रियभाषी, स्वामी के संदेश को ज्यों का त्यों कहने वाला तथा स्मरण शक्ति से संपन्न होना चाहिए।[4]

---

1. ऋग्वेद : 1/61/1
2. नीति मयूख : पृष्ठ –89
3. मनुस्मृति : अध्याय –7 श्लोक 63–64
4. श्लोक–कुलीनः शील संपन्नों वाग्मी दक्षः प्रियंवदः यथोक्तवादी स्मृतिमान दूतः स्यात सप्ताभिगुणैः ।। 28 ।।

शुक्र नीति में भी दूत को इंगित और आकार का ज्ञाता, स्मृतिवान देश काल का ज्ञाता, षड्गुण्य नीति का पण्डित, सुवक्ता, और निर्भीक आदि गुणों वाला बतलाया गया है।[1]

सोमदेव सूरि के अनुसार दक्ष, शूरवीर, प्राज्ञ, प्रगल्भ (दूसरों के चित्त को प्रसन्न करने में कुशल), प्रतिभावान, विद्वान, सुवक्ता, तितिक्षु (गंभीर–प्रकृति वाला), द्विज, स्थविर (नीतिशास्त्र व एश्वर्य आदि से जिसका आचार विकृत न हो एवं प्रिय), आदि गुणों से संपन्न व्यक्ति ही, राजदूत पद पर नियुक्त किए जाने योग्य है।[2]

दूतों के प्रकार :

महत्वकम की दृटि से नीतिमयूखाकार ने दूत की तीन श्रेणी (1) निसृष्टार्थ (2) मितार्थ (3) शासक वाहक बतलाई है।

निसृष्टार्थ :

निसृष्टार्थ श्रेणी के दूत की व्याख्या करते हुए नीलकण्ठ ने कहा है कि जो बिना शिक्षा प्राप्त किए हुए ही देश और काल के लिए उचित समय के अनुसार दूसरों के आगे कहता है वहीं निसृष्टार्थ है।[3] जैसे कि श्रीकृष्ण भगवान पाण्डवों के निसृष्टार्थ दूत थे।

कौटिल्य के अनुसार जिस दूत की योग्यता अमात्य के समान होती है, उसे निसृष्टार्थ दूत कहते हैं।

मितार्थ –

मीमांसक नीकलण्ठ भट्ट का मितार्थ से तात्पर्य है केवल आवश्यक बात को ही कहना। 5

---

1. शुक्रनीति : अध्याय 2 पृष्ठ 38
2. नीतिवाक्यामृतम : दूत समुद्देश्य, पृष्ठ 170
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 89
4. कौटिलीय अर्थशास्त्र : अधि0 1, अध्याय 16, पृष्ठ 48, श्लोक 2
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 89

अमात्य की तीन चौथाई योग्यता रखने वाले दूत को कौटिल्य परिमितार्थ के नाम से संबोधित करते हैं।

शासन वाहक –

नीलकण्ठ भट्ट का शासन वाहक दूत की श्रेणी से अभिप्राय प्रसिद्धि से है।[2]

कौटिल्य शासन हर दूत की श्रेणी में उनको परिभाषित करते हैं, जिन्हें वह शासक की उपाधि ा देते हैं।

कामन्दक ने स्वीकार किया है कि दूत पद के निमित्त जो गुण एवं योग्यताएं निर्धारित की गई हैं। उन सभी गुण एवं योग्यताओं को धारण करने वाला दूत निसृष्टार्थ कहलाता है। इन गुणों एवं योग्यताओं से एक चौथाई हीन गुण एवं योग्यताओं वाला दूत परिमितार्थ, और उससे भी चौथाई हीन गुण एवं योग्यताओं वाला दूत शासक ही कहलाता है।[4]

दूत के कर्तव्य : –

दूत के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि दूत राज्य की सारक्ता, किला और उस किले की रक्षा, कोश, मित्र, बल और शत्रु का छिद्र यह सब जाने। शत्रुओं से उद्यत होने पर भी यथोक्त अपने शासन को कहना चाहिए, और प्रजा की स्वामी पर प्रीति और विराग जाने। फल, नाम, द्रव्य और बड़े कार्य इन चारों बातों से दोनों पक्षों का चार प्रकार का स्त्रोत (प्रशंसा युक्त प्रबंध) करें। तीर्थ आश्रय, स्थान में शास्त्र के हेतु से तपस्वियों के समान वेश किए अपने दूतों के साथ निवास करें। प्रतापु ल, ऐश्वर्य, त्याग उन्नति की श्रेष्ठता अक्षुद्रता और श्रेष्ठता स्वामी के शत्रुओं को दिखावें। उसके अनष्ठि वचन को भी सहें, काम और क्रोध वर्जित करें। जिस प्रकार वैंत का वृक्ष दूसरे का आश्रय लिए बिना स्वयं ही अपने आश्रय में खड़ा रहता है।[5]

---

1. कोटि0 अर्थशास्त्र : अधि0 1, अध्याय 16, पृष्ठ 48, श्लोक 3
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 89
3. कौटिलीय अर्थशास्त्र : अधि 1, अध्याय 16, पृष्ठ 48, श्लोक 4
4. कामन्दकीय नीति सार : सर्ग 12, श्लोक 3–4
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 89– 90

दूत के लिए विशेष सावधानियां :-

मीमांसाकार नीलकण्ठ भट्ट ने दूत (दौत्य) कर्म की सफलता हेतु कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। इस विषय में सर्वप्रथम सुझाव यह है कि दूत बिना जाने हुए शत्रु के पुरव सभा में प्रवेश न करें, कार्य की इच्छा वाला समय को परखे, काल देखकर आक्रमण करें। 1 पुनः नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि दूत को एकान्त में सोना चाहिए, अर्थात दूसरों के साथ कभी न सोवे, अपने भाव की रक्षा करता हुआ दूसरों के भाव जाने। इसलिए अकेले ही नित्य सोए। तथा पर स्त्री व मद्य (शराब) से दूर रहे। देश और देश के जंगल की रक्षा करने वालों को अपने में ही आत्मसात् करें। राजा के पालकों को अपने अधीन करना, युद्ध और पलायन की भूमिका यह सब दूत के कार्य हैं। दूत के द्वारा ही राजा शत्रु का आकर्षण करें और अपने पक्ष में शत्रुओं के दूत की चेष्टा करें। [2]

राजसेवक लक्षणम् :-

राज्य का संचालन महान कार्य हैं यह एक या दो व्यक्तियों द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता। अतः आचार्य नीलकण्ठ ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि राजा को आवश्यकतानुसार योग्यता के अनुरूप राज सेवकों की नियुक्ति करनी चाहिए। इस प्रकार नीलकण्ठ ने कामन्दक के समान ही हमेशा राजा के पास रहने वाले राजसेवकों के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है कि सेवक स्वामी के पीछे निर्दिष्ट आसन पर बैठकर इधर उधर दृष्टि को चलायमान न करें, कौन है ऐसा कहने पर मैं हूं क्या आज्ञा है ऐसा कहें, और यथा शीघ्र ही उस आज्ञा को सम्पादित करें। ऊंचे स्वर से हंसना, बहुत खांसना, खंकारना, कृत्सन (निन्दा) जॅमाई लेना, अंगड़ाई लेना, ऊंगली चटखाना, इतनी बातें सेवक को राजसभा में कभी नही करनी चाहिए। सभा में प्रवेश करके प्रेमपूर्वक स्वामी के चित्र की वृत्ति को देखकर उसके पक्ष को ही समर्थन करता हुआ पूछने पर शुभ वचन बोलें। अथवा स्वामी के आज्ञा देने पर निश्चित अर्थ न बोले, और जब सुख वृद्धि कारी गोष्ठी हो रही हो, तब उस विवाद में बादियों के मत को जानकर भी न कहें। स्वामी के पूछे बिना कभी शीघ्र उत्तर न दें।

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 89
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 90

प्रवीणता और बुद्धिमत्ता का अभिमान न करें। जो बात विशेषता से भी जानी गई हो, उसे भी शनैः शनैः नम्रता से कथन करें, विनय युक्त होकर कर्म से ही उसकी श्रेष्ठता सम्पादन करें। स्वामी के आपदग्रस्त होने, कुमार्ग में चलने तथा कार्यकाल व्यतीत होता देखे तो, हित की इच्छा वाला कल्याण के वचनों को बिना पूछे कहें। प्यारे, सत्य, हितकारी, धर्म, अर्थ, संयुक्त वचन बोले, देशकाल का जानने वाला यथोचित देशकाल में परार्थ को साधन करें। [1]

'संतोष आदि के अवसर पर परोपकार भी करना चाहिए। [2] चाहूं ठूंठ के समान क्षुधा से ब्याकुल होकर सूख जाय, परन्तु पण्डितजन अनात्म सम्पत्ति की इच्छा न करें। [3] राजसेवक स्वामी के गुप्तकर्म और मंत्र को किसी प्रकार भी प्रभावित न करें, और विद्वेष तथा विनाश को मन से भी न विचारें। स्त्रीजन तथा उनमें देखने वाले, पापीजन तथा वैरी के दूत अथवा जिनका तिरस्कार किया हो, एक ही प्रयोजन वालों का संसर्ग और साहित्य का निरन्तर सेवन इनका त्याग कर दें। राजा के भेष तथा बोली का अनुसरण न करें। चतुर कार्य का करने वाला स्वामी की प्रसन्नता और अप्रसन्नता को जानें। इन्द्रियों की चेष्टा और आकार के तत्व का जानने वाला इन्द्रियों के आकार और चेष्टाओं को जानें। सेवक के अर्थ तथा उसके कर्तव्य को जो प्रगट होकर सुनता है अर्थात उसके चरित्र को मन लगाकर सुनता है। जो तारीफ करने योग्यों की बढ़ाई करता है, जो उसकी बढ़ाई करे उससे प्रसन्न होता है।[4] राजा के द्वारा किसी की स्तुति करने पर राजसेवकों को भी उसका अभिनंदन करना चाहिए। [5] जो सेवक दूसरी वार्ताओं में भी राजा का स्मरण करता है और प्रसन्न होकर गुणों का कीर्तन करता है ऐसे राजसेवक को आपत्ति के समय में भी राजा को नहीं त्यागना चाहिए। [6] महाभारत को उद्धृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने राजसेवक के द्वारा राजा को शिक्षा देना अग्नि को प्रज्जवलित करने के समान है। अतः राजसेवक को अपने स्वामी (राजा) के क्रोध को विष के समान मानना चाहिए, इसलिए इनका उपचार भी यत्नपूर्वक करना चाहिए, साथ ही यह भी विचार करना चाहिए कि स्वामी के पीछे मैं कुछ नहीं हूँ।[7]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 60
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 61
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 61
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 61
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 61
6. नीतिमयूख : पृष्ठ 61
7. नीतिमयूख : पृष्ठ 61

राजा मुझे पर स्नेह करता है, ऐसा मानकर राजसेवक को अपने स्वामी का अपमान नही करना चाहिए। बल्कि जिस प्रकार से सर्प से सावधानी होती है उसी प्रकार राजा के कार्य में सावधानी राजसेवक की होनी चाहिए।[1] जो सेवक आपत्तिकाल में भी अपने स्वामी की सेवा करता है उसकी तुलना अन्यत्र प्राप्त नहीं होती क्योंकि राजसेवक स्वस्थ्य वृत्ति में रहकर कभी अपने लक्ष्य से विरत नहीं हो सकता तथा विपत्तिकाल में धैर्यशाली व्यक्तियों में उसके नाम की गणना की जाती है, और महापुरुषों के प्रति किए गए उपकार के कार्य प्रशंसनीय तथा आनंददायक होते हैं। समय पर वह उपकार (कल्याण प्रदान) करते हैं तथा स्वल्प उपकार होने पर भी महानता देता है। यदि स्वामी कल्याण का आशीर्वाद देता है तो सेवक को आदरपूर्वक देवः शब्द से संबोधन करना चाहिए। महापुरुषों के द्वारा यदि अपनी रक्षा के लिए गृहण किया जाता है या सेवाओं के लिए गृहण किया जाता है उस अवस्था में बुद्धि, शक्ति और उद्योग से युक्त होना चाहिए। आलसी का अल्पदोषी का, विद्याहीन का आत्मा से जो सेवक ससार में स्वामी का अनुगमन करता है, उसके समान प्रियवादी कौन हो सकता है। जो बीर होते हैं, विद्वान होते हैं तथा सेवा कार्य में चतुर होते हैं, उनके दान केसमय माता भी विमुख हो जाती है। राजसेवक ही विकसित राज्य की सम्पत्ति का भोग करते हैं। लेकिन यदि राजा प्राणियों का पालन नहीं कर सकता है तो सेवक उसका साथ उसी प्रकार त्याग देते हैं जैसे सूखे वृक्ष को पक्षी त्याग देते हैं जैसे सूखे वृक्ष को पक्षी त्याग देते हैं।[2]

चाणक्य को उद्‌घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि सोने के फलों वाली इस पृथ्वी के फूलों को तीन व्यक्ति ही तोड़ सकते हैं, जो वीर हो, विद्वान हो, तथा जो सेवा करना जानता हो।[3] तथा राजसेवक में कुल, व्यवहार तथा वीरता इन सबाकी गणना नहीं की जाती क्योंकि व्यवहार शून्य तथा नीच कुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति भी यदि दानी है तो वह लोगों में प्रशंसा प्राप्त कर सकता है।[4]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 61
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 61–62
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 62
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 62

भीष्म ने राजसेवकों के लक्षणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि जो सेवक जिस कार्य के योग्य हो उसकी उसी कार्य के सम्पादन हेतु नियुक्त करना चाहिए। कर्मफल के अभिलाषी को (इस नियम के विरुद्ध सेवकों की) सेवकों की नियुक्ति करना उचित नहीं होगा।[1] जो बुद्धिहीन राजा इस नियम का अतिक्रमण करके विरूद्ध रीति से अपने सेवकों की नियुक्ति करता है वह प्रजा रंजक कार्य सम्पादन में समर्थ नहीं होता।[2] राजा को मूर्ख, क्षुद्र, बुद्धिहीन, इन्द्रिय लोलुप और अकुलीन पुरुषों को राजसेवक नियुक्त नहीं करना चाहिए।[3] तथा इसके विपरीत राजा को साधु, सदवंश में उत्पन्न (कुलीन) ज्ञानी अनिन्दक, पवित्र, और दक्ष राजसेवक की नियुक्ति करना चाहिए।[4]

कामन्दक ने राजसेवक के लक्षणों (गुणों) का उल्लेख करते हुए कहा है कि राजसेवक कुलीन, विद्वान (विद्या) शुचिता, उद्योग, सम्पन्नता, ज्ञान (विवेक) अनुभव, विशेष ज्ञान युक्त व्यक्ति होना चाएि।[5]

मित्र मिश्र ने राजसेवकों के लक्षणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि राजसेवकों को कुलीन शौर्य सम्पन्न, कुलीन जाति में उत्पन्न बलसम्पन्नता, श्री मान होना, रूप और स्वतत्व सम्पन्नता, क्षमाशीलता क्लेश सहन क्षमता, धर्मज्ञता, प्रिय वादिता, हितोपदेश होना, सनियमता, महोत्साह स्वाभिक्ति, अक्षुद्रता, शुचिता दक्षता, और ज्ञानवक्ता, साधुस्वभाव अनुसूचक होना चाहिए। 6

कोश -

कोश सामान्य परिचय -

नीलकण्ठ प्राचीन के सभी राजशास्त्र प्रणेताओं के समान ही राज्य के शासन संचालन हेतु कोश को बहुत आवश्यक मानते हैं।[7] इसलिए राजशास्त्रियों ने खजाने (धनागार) के रूप में कोश का उल्लेख किया है। कोश की परिभाषा करते हुए शुक्र ने अपना मत व्यक्त किया है कि जिन-जिन

---

1. शांतिपर्व : 6/119 2. शान्तिपर्व : 7/119
3. शान्तिपर्व : 8/119 4. शान्तिपर्व : 9/119
5. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय, पृष्ठ 179 –80
6. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय, पृष्ठ 400
7. नीतिमयूख : पृष्ठ

वस्तुओं का संग्रह एक स्थान में होता है वह उनका कोश कहलाता है।

आचार्य सोमदेव सूरि ने भी कोश को परिभाषित करते हुए कहा है कि जिसके द्वारा सम्पत्ति और विपत्ति दोनों कालों में सेना की वृद्धि हो उसे कोश कहते हैं।[2]

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेता कोश की आवश्यकता एवं महत्व से परिचित थे। इसलिए उन्होंने कोश विहीन राज्य की परिकल्पना स्वीकार नहीं की है वरन राज्य (राजा) की उत्पत्ति के साथ ही कोश की उत्पत्ति का विचार भी व्यक्त किया है। इस प्रसंग की पुष्टि के लिए जब प्रजा ने मनु को अपना राजा बनाया था, उस समय प्रजा ने मनु को पशु और स्वर्ण के लाभ का पचासवां (आधा) भाग तथा धान्या का दसवां भाग राजकोष की वृद्धि के निमित्त देने का वचन दिया था।[4]

वृहस्पति का मत है कि समस्त क्रियाओं का मूल कोश है।[4]

ऐसा ही विचार कौटिल्य ने भी व्यक्त किया है।[5]

सोमदेव सूरि का मत है कि राजा की उन्नति का आधार कोश है राजा का शरीर (मात्र राजा की उत्पत्ति) नहीं। उनका मत है कि राजा को कल्याणकारी भविष्य के लिए (हेतु) कौड़ी –कौड़ी करके भी अपने कोश की वृद्धि करनी चाहिए।[6]

भीष्म का मत है कि राजा कोश के अधीन होता है और राज्य की उन्नति का हेतु ही कोश है।[7]

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं एवं राजधर्म निबन्धकारों ने प्राचीन भारतीय राजनीति में कोश की वृद्धि इसलिए आवश्यक मानी है कि राज्य शक्ति मुख्य रूप से अर्थशक्ति पर आधारित होती है। कोश वृद्धि के महत्व को दृष्टिगत कर प्राचीन आचार्यों ने (खजाने) कोश की सुरक्षा को राजा का एक

---

1. शुक्र 4/116
2. नीतिवाक्यामृत कोश समुद्देश 21/1
3. शान्तिपर्व, अध्याय 67, श्लोक 23 –24
4. वृहस्पति स्मृति, व्य० का० 7/1
5. कौटिलीय अर्थशास्त्रम, 2/8/26/1
6. नीतिवाक्यामृत 21/7, 21/5, 21/8, 21/4 और 21/10–19
7. शान्तिपर्व, अध्याय 119, श्लोक 16

महत्वपूर्ण कार्य माना गया है। आचार्य कौटिल्य ने भी कोश को राज्यव्यवस्था का मूल मानते हुए उसकी रक्षा का निर्देश दिया है।

कोश का महत्व एवं आवश्यकता -

प्राचीन राजधर्म निबन्धकारों एवं राजशास्त्र प्रणेताओं ने कोश को राज्य के सात अंगों में से एक प्रमुख अंग माना है। कोश राज्य की वृद्धि के लिए आवश्यक हैं बिना कोश के या कोष के अभाव में राज्य का संचालन नहीं हो पाता है। मीमांसाकार नीलकण्ठ भट्ट ने भी मनु, भीष्म, कौटिल्य व कामन्दक के मत को उद्धृत कर कोश को सप्तांग राज्य के लिए उपयोगी बतलाया है। [2]

मनु ने भी राज्य के सप्तांगों में से कोश को एक अंग माना है, जिसकी वृद्धि के लिए राजा को निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। [3]

कोश की उपादेयता को स्वीकार करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि संसार में अर्थ ही मुख्य पदार्थ है। अर्थ के बिना मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन में असमर्थ हो जाता है। फिर राज्य संचालन जैसा महान कार्य अर्थ के बिना क्यों कर सम्पन्न हो सकता है ? तथा जब यह अर्थ राज्य संचालन हेतु संचित कर राज्य के अधीन संग्रहीत किया जाता है, तब कोश कहलाता है। [4] राज्य संचालन हेतु कौटिल्य ने कोश की आवश्यकता एवं उपयोगिता सर्वोपरि मानी हैं। [5]

कोश का महत्व स्वीकार करते हुए कामन्दक ने भी कहा है कि सेतु बन्धन वाणिज्य (व्यापार कर्म) प्रजा और मित्र संग्रह, और त्रिवर्ण (धर्म अर्थ और काम) की सिद्धि कोश के द्वारा होती है। कोश क्षीण हुए सैन्य बल की वृद्धि करता है, प्रजा स्वयं कोश सम्पन्न राजा का आश्रय लेती हैं शत्रु भी ऐसे ही राजा का आश्रय ग्रहण किया करते हैं। [6]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 74
2. कौटिलीय अर्थशास्त्र : 2/8/26/102
3. डॉ० श्याम लाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, पृष्ठ 44
4. कौटिल्य अर्थशास्त्र : अ० 7, अधि० 1, श्लोक 10
5. कौटिल्य अर्थशास्त्र : अ07, अधि0 1, श्लोक 10
6. कामन्दक नीतिः सर्ग – 13, श्लोक 32–34

आचार्य सोमदेव ने कोश की महत्ता का उल्लेख करते हुए बताया है कि धर्म काम और पुरुषार्थ का मूल अर्थ ही है।[1] संसार में जिसके पास धन है वहीं कुलीन और महान है।[2]

जो व्यक्ति कुलीन अथवा महान होकर भी आश्रितों का भरण पोषण नहीं कर सकता उसकी महानता अथवा कुलीनता व्यर्थ ही है।[3]

आचार्य श्री का कथन है कि वह विस्तीर्ण सरोवर व्यर्थ ही है जिसमें पर्याप्त जल का आभाव है। इसी प्रकार कुलीनता आदि में बड़ा होने पर भी यदि कोई व्यक्ति दरिद्र है तो इसका बड़प्पन व्यर्थ ही है।[4]

कोश की प्रमुखता के विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने बराह मिहिर को उद्घृत करते हुए कहा है कि कोश (धन, खजाना) राज्य रूपी वृक्ष की जड़ (मूल) है, अन्य वस्तुएं उसकी शाखाएं हैं। राज्य रूपी वृक्ष के प्रजागण पक्षी हैं उनका (प्रजा का) विपक्ष बिना पां वाले पक्षी की तरी निर्धन क्यों करते हो, जिस तरह अन्न उनके (जनता के) के लिए आवश्यक होता है, उसी प्रकार राजा राज्य के लिए कोश की प्रगति रक्षण और वृद्धि के लिए प्रयत्न वान होना चाहिए।[5]

भीष्म का मत है कि एक मात्र कोश के कारण ही सब राजा का सम्मान करते हों। जैसे कपड़ा नारी के गुप्त अंगों को छिपाए रखता है उसी प्रकार कोश राजा के सारे दोषों को ढंक लेता है।

कोश संचय सिद्धांत -

मीमांसाकार से पूर्व के सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य को कोश पर अवलम्बित माना है। इसलिए राज्य के योग क्षेम के लिए कोश की वृद्धि की ओर राजा को सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसके लिए इन्होंने कोश संचय के लिए कुछ सिद्धांत निर्धारित किये हैं। गलत और अवैध सिद्धांतों से कोश संच करने को निषेध बताया है।

---

1. नीतिवाक्यामृतम् / काम समुद्देश/पृष्ठ 56
2. नीतिवाक्यमृतम् / कोश समुद्देश/पृष्ठ 205
3. नीतिवाक्यमृतम / कोश समुद्देश/पृष्ठ 205
4. तस्य किं सरसों महत्वेन यत्र न जलानि,
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 74

'आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने कोश संचय सिद्धांत की पुष्टि में गाय व भ्रमर के दृष्टांत दिए हैं। भ्रमर जिस प्रकार से पुष्प या वृक्ष से उसका रस प्राप्त करने के लिए पुष्प या वृक्ष को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाता। गाय से दूध पाने के लए अभिलाषी बछड़ा गाय को कष्ट न देकर धीरे ६ ीरे गाय को दुहता है, उसके थनों को कुचलता नहीं। उसी प्रकार राजा को विनम्रतापूर्वक गायक रूपी (राष्ट्र) का दोहर करना चाहिए, उसे पीड़ित नही करना चाहिए (कष्ट नही देना चाहिए) अर्थात राजा को प्रजा को बिना कष्ट पहुँचाये प्रजा से कर ग्रहण कर कोश का संचय करना चाहिए।

इसी विषय में पुनः महाभारत को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जो कोई व्यक्ति धन उत्पन्न करताहै, तो राजा को उस मनुष्य की रक्षा करनी चाहिए, तथा जो राजा कोश को नष्ट करता है वह भी आवश्यक रूप से दण्ड का पात्र हैं। धन नष्ट करने वाले राजा के विषय में जानकर अमात्यों के द्वारा रक्षा की जानी चाहिए। तथा जो अमात्य और उसके संबंधी मिलकरके उससे निवेदन नही करते हें तो वे अवश्य ही दण्ड के भागी हैं।

राजकोश को गुप्त रखने वाले, तथा राजकोष को उपभोग करने वाले को सभी मारने को दौड़ते हैं और वह आरक्षित होकर के नष्ट हो जाता है।[2]

कामन्दक को उद्घृत करते हुए अच्छे कोश के लक्षणों का उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि वर्द्धमान (बहुत ग्रहण वाला) , थोड़े कर्मवाला, विख्यात, आधी देवता से पूजित, मनईप्सित, द्रव्यों से भरा हुआ, सुहृदय, सज्जन, पुरुषों से सेवित, मोती सुवर्ण और रत्नों से भरा हुआ, पिता तथा पितामह के संबंधों से आया हुआ, शीघ्रगामी सवारी व हाथी पर खजाना रखना चाहिए, जहां राजा हो, वहीं खजाना स्थापित करें, कारण कि राजस्व (राजपन) कोश के ही अधीन है।[3]

धर्म से उपार्जन किया हआ, कैसा भी खर्च आ पड़े उसको सह लेने वाला खजाना कोषाध्यक्ष को सम्मत है। धर्म और अर्थ के निमित्त तथा भृत्यों के भरण पोषण के निमित्त और आपत्ति के निमित्त कोशवाले को कोश की सदा रक्षा करनी चाहिए। तथा राजा को अपने कोश की रक्षा अपने पुत्रों, भार्या (स्त्री) तथा अपने सुहृदों (मित्रों) से भी करनी चाहिए।[4]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 74
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 74
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 74
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 74

नीतसार को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि कोषागार (खजाना) की निरन्तर परीक्षा करता रहे, और अधिक व्यय न करें। तथा कोष कृषि व्यापार, यश, किला, सेतु, हस्तवन्धन स्थान, खान, मणिरत्न धन का आगम स्वस्थ्य चित्त (हृदय) से ही बढ़ता है।[1]

शिवधर्म को उद्घृत कर कोश के भागों के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि वित्त (कोश) के तीन भाग करने चाहिए, प्रथम भाग जीवन के लिए तथा दो भाग धर्म के लिए होने चाहिए।[2] इसी विषय पर हेमाद्रि धन के पांच भाग करके तीन जीवन के लिए और दो धर्म के लिए आवश्यक मानते हैं।[3]

कोश के अन्तर्गत कृपण की आशक्ति का वर्णन महाभारत को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि एक गाय का दान 10 गायों के दान का फल देता है और यदि 10 गायों का दान किया जाए तो सौ गायों के दान का फल प्राप्त होता हैं, 100 गाय दान की जांय तो हजार गायों के दान का फल प्राप्त होता है। इस प्रकार इन सबासे समान फल प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य है कि अर्जित धन का दशांश (दसवां भाग) ही दान करना चाहिए।

राष्ट्र–

राष्ट्र शब्द ऋग्वेद (22/4/42/1) ममहिता राष्ट्र क्षत्रियस्य 'मेरा राष्ट्र दोनों ओर या दोनों गोलकों में है' ऐसा त्रसदस्यु ने कहा है) मैं भी आया है। वरूण को राष्ट्रों का स्वामी का स्वामी (राजा राष्ट्राणाम.....ऋ0 7/34/11) कहा गया हैं वरुण को राष्ट्रों का स्वामी का स्वामी (राजा राष्ट्राणाम. ....श्र0 /84/2, 10/109/3) आदि। तैत्तिरीय संहिता (7/5/18, वाजसनेयी संहति 22/22) में आशीर्वचन आया है ' इस राष्ट्र में राजा शूर, महारथी और धनुर्धर हो।

प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेता मनु, याज्ञवल्क्य भीष्म, शुक्र, लक्ष्मीधर, चण्डेश्वर आदि ने अपने राजनीतिक ग्रंथों में राष्ट्र के संगठन व राष्ट्र के पदाधिकारियों के विषय में सविस्तार प्रकाश डाला है। तथा मनु के अलावा अन्य सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने मनु की ही

. नीतिमयूख : 74
2. नीतिमयूख : 75
3. नीतिमयू : 75
4. नीतिमयूख : 75
5. तैत्तिरीय संहिता : 7/5/18/1. वाज0 संस्करण

राष्ट्र संगठन व्यवस्था को किसी न किसी रूप में अपनाया है।

नीतिमयूखाकार ने राष्ट्र विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि संपूर्ण राज्य के अंगों से ही राष्ट्र संभव होता है, अर्थात राज्य के अन्य छः अंग एक मात्र राष्ट्र के आश्रित होते हैं। इसलिए राजा को सब तरह से राष्ट्र की रक्षा (साधना) करनी चाहिए। इस कारण असाधु पापात्माओं के दण्ड देने से राजा पाप में लिप्त नहीं होता हे, जो प्रजा को कष्ट दे उनको उच्छेद व शिक्षित करें। शास्त्र के ज्ञाता श्रेष्ठ पुरुष जिस कर्म की बढ़ाई करते हैं, वह धर्म है, और जिसकी निंदा करते हैं वह अधर्म है। राजा धर्म– अधर्म को जानता हुआ सत्पुरुषों के मार्ग में स्थित हुआ भली प्रकार प्रजा की रक्षा करें और विद्रोहियों को नष्ट करें। जो पापी राज्य प्रिय पुरुष राष्ट्र का घात करते हें, एक एक या मिले हुए उन सबको दूषणीय कहा है। राजा शीघ्र ही ऐसे दुष्ट पुरुषों को दण्ड से नष्ट करें और प्रगट व अप्रगट लोगों के द्वेषों को शांत करें। [1]

प्रजा आरक्षित होकर के यदि कुछ पाप करती है तो राजा भी उसके आधे पापों का भागी होता है। क्योंकि राजा प्रजा से कर ग्रहण करता है। सब जगह यदि राजा प्रजा की रक्षा करता है तो वह उसके धर्म का छटवां हिस्सा भी प्राप्त करता हैं यदि वह प्रजा की रखा अच्छी प्रकार से नहीं करता है तो प्रजा के द्वारा किए गए अधर्मों का भी छटां भाग प्राप्त करता हैं जिस प्रकार बीज का छोटा सा अंकुर रक्षित होने पर महान वृक्ष बन जाता है तथा समय पर फल भी देता है। उसी प्रकार से यह प्रजा भी है, यदि उसके साथ कठोरता का व्यवहार किया जाएगा तो प्रजा दुखित होगी और यदि मधुरता का व्यवहार किया जाए तो प्रसन्न होगी। इसलिए जहां आवश्यक हो वहीं पर उसको दण्डित किया जाए तथा अनाश्रित होकर के प्रजा को अपने पक्ष में रखना चाहिए। [2]

'राजा विशेषतया कायस्थों (लेखकों एवं गणकों) से पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा करें3 जो राजा अपने धर्माचरण का त्याग करता है तो उससे महान अधर्म होता है। वह रात और दिन भयमुक्त रहता है जब तक कि उसका पाप नष्ट नहीं हो जाय। [4]

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ 75
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 75–76
3. नीतिमयूख पृष्ठ 76
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 76

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ ने पुनःराजा के द्वारा राष्ट्र में कर निर्धारण का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'राजा को माल की खरीद बिक्री, उसे मंगाने का खर्च, उसमें काम करने वाले नौकरों का वेतन, वचत और योग क्षेम के निर्वाह की ओर दृष्टि रखकर ही व्यापारियों पर कर लगाना चाहिए। इसी तरह माल की तैयारी, उसकी खपत तथा शिल्प की उत्तम, मध्यम आदि श्रेणीयों का बार बार निरीक्षण करके शिल्प एवं शिल्पकारों पर कर लगावें। राजा को ऐसे मार्ग पर नहीं चलना चाहिए जिसकी प्रजा निंदा करे। राजा को ऐसे निन्दित मार्ग का त्याग कर देना चाहिए जो उसे गड्डे में गिराता हो। यदि राजा अधिक शोषण करने वाला विख्यात हो जाय तो सारी प्रजा उससे द्वेष करने लगती है।[1]

नीलकण्ठ ने कर निर्धारण के संबंध में महाभारत को उद्घृत करते हुए कहा है कि भीष्म पितामह युधिष्ठर से कहते हैं कि हे (भरत नन्दन) युधिष्ठर जिस गाय का दूध अधिक दुह लिया गया हो उसका बछड़ा कमजोर होने के कारण भारी भार बहन नहीं कर पाता (वैसा अधिक काम नहीं कर पाता) है। इसी प्रकार राष्ट्र भी अधिक दोहन करने से वह दरिद्र हो जाता है, अर्थात राष्ट्र पर भी अधिक कर लगाने से राष्ट्रवासी अत्यन्त दरिद्र हो जाते हैं। इस कारण वह कोई महान कार्य नहीं कर पाता।[2] जो राजा स्वयं रक्षा में तत्पर होकर समूचे राष्ट्र पर अनुग्रह करता है तो उसकी प्राप्त हुई आय से अपनी जीविका चलाता है वह महान फल का भागी होता है। नगर और ग्राम के लोग यदि साक्षात शरण में आए हों या किसी को मध्यस्थ बनाकर राजा के शरणागत हुए हों, तो राजा उन सब स्वल्प धनवानों पर भी अपनी शक्ति के अनुसार कृपा करें।[3] प्रचार, भृत्यों का पालन, आपत्तिकाल, प्रजा के भय तथा उसके कल्याण को ही देखकर ही शासक (राजा) को कर निर्धारण करना चाहिए।[4]

अंत में नीलकण्ठ ने कहा है कि दयावान तथा अप्रमत्त होकर मधुर व्यवहार के द्वारा राजा को करों का निर्धारण करना चाहिए।[5]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 76
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 76
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 76
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 76
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 76

पंचम अध्याय

नीलकण्ठ भट्ट के युद्ध व संधि संबंधी विचार-

प्राचीन भारत में छोटे– छोटे नगर, राज्य थे। जिसमें अनवरत् युद्ध चलतें थे। अतः सेना राज्य का अपरिहार्य अंग माना जाता था। आचार्य कामन्दक ने राष्ट्र[1] एवं प्रजा[2] की रक्षा राजा का प्राथमिक उत्तरदायित्व माना है और उस उत्तरदायित्व के कुशल निर्वाहन हेतु राज्य में सुदृढ़ दुर्ग एवं सशक्त सेना की आवश्यकता प्रगट की है। सैनिकों की वृत्ति रक्षित प्रजा द्वारा प्राप्त करों[3] से पूर्ण होती थी। आचार्य श्री ने सेना को राज्य के अंग के रूप में मान्यता दी है।[4] तथा सैन्य बल के षष्ट भेद 5 तथा अन्योन्य प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का उल्लेख किया है।

वैदिक युग के आरंभ में राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य अपने राज्य के भू –भाग तथा प्रजा की रक्षा करना था। वह विदेशी शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करता था और उसे कार्यों के सम्पादन के निभित जनता से कर प्राप्त होता था। राजा के अनेकानेक सहायक होते थे। जिनमें पुरोहित और सेनानी प्रमुख थे। प्रारंभिक भारतीय सेना में मुख्यरूपेण पैदल, रथ और घुड़सवार सेना का

---

1. राज्यांगनान्तु सर्वेषां राष्ट्रंद्भवित सम्भवः।
   तस्मात्सवंप्रयतनेन राजा राष्ट्रं प्रसाधयेत्।।3।।
2. धम्माधम्मो विजानन् हि शासनेऽभिरतः सताम्।
   प्रजां रक्षेन्नृपः साधु हन्याच्च परिपन्थिनः ।।8।।
3. यथा बीजांकुरः सूक्ष्मः परिपुष्टोऽभिरक्षितः।
   काले फलाय भवति साधु तद्वदियं प्रजा।। 4।। – कामन्दककीयनीतिसार सर्गा – 6, श्लोक 3, 8, 14
4. स्वाम्ययात्यश्व राष्ट्रच्च दुर्गं कोषो बलं सुह्रत।
   एतावदुच्यते राज्यं सत्त्वबुद्धिव्यपाश्रयः।। 6।। –कामन्दकीयनीतिसार सर्ग –4 श्लोक –16
   स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रज्च दुर्ग कोशो बलं सुह्रत्।
   परस्परोपकारीदं सप्तांग राज्यमुच्यते।। ।। ।। –कामन्दकीयनीतिसार सर्ग –4, श्लोक –1
5. देवानश्रयचर्य विप्रांश्च प्रशस्तग्रहतारकम्।
   षड्विधं तु बलं व्यूह्य द्विषतोऽभिमुखं व्रजेत्।।2।।
   मौलं भूतं श्रेणिसुहृद्विषदाटविंक बलम्।
   पूर्व पूर्व गरीयस्तु बलानां व्यसनन्तथा।। 4।। –कामन्दकीयनीतिसार सर्ग – 18, श्लोक –2, 4

ही प्रयोग किया जाता था और युद्धगान गाए जाते थे। परन्तु युद्ध में रथ सेना का प्रयोग बहुत ही कम किया जाता था, जो उत्तर वैदिक काल में बहुत प्रचलित था। इस युग में ऊंचे घराने के योद्धा धातु के शरीर, त्राण, शिरस्त्राण तथा बाहुरक्षक का प्रयोग करते थे और आक्रमणकारी अस्त्र के रूप में मुख्य रूप से धनुष का प्रयोग किया जाता था, सींग की नोंक वाले विषयुक्त तथा लोहे अथवा तांबे की नोंक वाले, दो प्रकार के तीरों का प्रयोग किया जाता था। शत्रु को विनाश करने के लिए भाला, तलवार तथा कुदाल प्रयुक्त किए जाते थे। युद्ध में ध्वजाओं तथा वाद्यों के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है। पत्ति, सेनामुख, गुल्मगण आदि प्राचीन भारतीय सैन्य संगठन की इकाइयां हैं। प्रत्येक परिवार का मुखिया गांव के मुखिया, जिसे ग्रामीणी कहते थे, के नेतृत्व में युद्धरत होता था। सामान्य रूप से ग्राम के प्रधान को कुलपति कहते थे जो नागरिक तथा सैनिक कार्यों के लिए गांवों का प्रध ान होता था और जिसकी देखरेख में किलों तथा गढ़ों की व्यवस्था की जाती थी। युद्ध संबंधी निर्णय राजा अपने प्रमुख परामर्शदाताओं की सहायता से करता था। उत्तर वैदिक काल में सेना के गठन, प्रशासन और संचालन के संबंध में कुछ विकसित सिद्धांतों को अपनाया गया था और गुप्तचरों का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में होने लगा था।[1]

इस पूर्व वैदिक तथा उत्तर वैदिक सैन्य व्यवस्था में कालान्तर में अनेकानेक परिवर्तन हुए और विश्व के अन्य भागों की भांति प्राचीन भारतीय भी अधिकांश समय युद्धरत रहे।

सेना की भर्ती वेतन एवं सुविधाएं–

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र की परम्परा का पालन करते हुए आचार्य कामन्दक ने सेना (बल) को सप्तांग राज्य का एक अंग माना है।[2] उन्होंने सेना एवं राज्य के अन्य अंगों के पारस्परिक संबंधों को प्रकाशित करते हुए सेना व कोष को परस्पर आश्रित माना है। आचार्य श्री के मतानुसार धन की इच्छा वाला यह लोक धन की इच्छा से ही सेवा करता है।

---

1. मजूमार राय चौधरी एवं दत्ता: " एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" पृष्ठ 29–30
2. स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रज्च दुर्ग कोषों बलं सुहृत्।
   एतावदुच्यते राज्यं सत्त्वबुद्धिव्यपाश्रयः ।। 16।। –कामन्दकीयनीतिसार सर्ग– 1. श्लोक –16
   स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रज्च दुर्ग कोशो बलं सुहृत्।
   परस्परोपकारीदं सप्तांग राज्यमुच्येत।। ।। ।। –कामन्दकीयनीतिसार सर्ग 4 श्लोक –1

उनका मानना था कि यदि सेनिकों की रक्षा कार्य करते हुए इस बात का एहसास हो कि मेरे मरने के बाद मेरे परिवार को राज्य की ओर से आर्थिक सहायता मिलेगी और उन्हें आर्थिक संकटों का सामना नही करना पड़ेगा तो वह रक्षा कार्य के लिए तत्पर रहेगा।

आचार्य शुक्र ने भी इस व्यवस्था को मान्यता प्रदान की है। महाभारत के शान्तिपर्व के लिए विशेष भत्ते घोषित किए जाते थे और नियमित रूप से उन्हें वेतन दिया जाता था। दीक्षितार ने लिखा है कि युद्ध में सैनिक की मृत्यु हो जाने पर उसके दुखी परिवार को राज्य की ओर सहायता दी जाती थी।[1]

प्रस्तुत विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय सेना में सेनांगों की व्यवस्था सामरिक दृष्टिकोण से पूर्ण रूप से उपयुक्त थी और विभिन्न सेनांगो के प्रशिक्षण का युक्त संगत प्रावधान था। सेना की भर्ती सैन्य गुणों के आधार पर होती थी और सैनिकों को वेतन भत्ते तथा पुरुस्कारों से संतुष्ट रखा जाता था।

कामन्दक, शुक्र, दीक्षितार के समान ही नीलकण्ठ भट्ट ने भी राष्ट्र व प्रजा की रक्षा के लिए सुहृद व संगठित सेना की आवश्यकता पर बल दिया है। तथा सैनिकों की वृत्ति रक्षित प्रजा द्वारा प्राप्त करने पर जोर दिया है। उनका मानना है कि यदि सेना को संचालित करने वाला सेनापति नेतृत्व प्रधान गुणों से सुसज्जित हो तो उसके अधीनस्थ सेना का प्रत्येक सैनिक सेनापति के कुशल नेतृत्व में प्रजा की रक्षा कर सकेगा, किन्तु सैनिक अपना सर्वस्व बलिदान करने को तत्पर है तो राज्य द्वारा उनकी मृत्यु पर्यन्त दी जाने वाली सुविधाओं का विस्तार करना होगा। तभी प्रत्येक सैनिक आत्मविश्वास के साथ युद्धभूमि में आगे आ सकेगा।

---

1. "वार इन एनशियट इण्डिया"—वी0आर0आर0 दीक्षितार पृष्ठ 57

सेनापति के संबंध में नीलकण्ठ भट्ट के विचार

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने सेनापति को सेना का सर्वोच्च पदाधिकारी माना है। उन्होंने सेनापति को ध्वजिनीपति की भी उपाधि दी हैं। उनका मत है कि सेनापति (ध्वजिनीपति) को अनेक गुणों वाला पुरुष होना चाहिएं इस विषय में नीतिसार को उद्घृत कर नीतिमयूख में सेनापति के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुल परम्परा से प्राप्त हुए अपने देश के मंत्र जानने वाले, और यत्नपूर्वक अध्ययन करने वाले, प्रभाव और उत्साह से सम्पन्न अनुजीवियों की आजीविका देने वाले, अकारण ही वैर न करने वाले, निर्मल मन वाले, आज्ञाशस्त्र संबंधी कर्मो के करने वाले, अल्पशत्रु वाले, शास्त्र के ज्ञाता, हाथी, घोड़े, रथ की सवारी करने में शिक्षित अन्य प्रकार के सभी कार्यों में अच्छी प्रकार से शिक्षित, त्यागी और सहनशील, युद्धभूमि के कर्तव्यों को जानने वाले, सिंह के समान गूढ़, विक्रमी, दीर्घसूत्रता रहित, तन्द्रा, आलस्यहीन, अमर्षण (असहनशीलता) उद्धतपन से रहित, देशभाषा, स्वरूप के ज्ञाता और उन भाषाओं के अक्षरों के ज्ञाता, दृढ़ स्मृति वाले, रात्रि में विचरण करने में कुशल, कुलशता पूर्वक ज्ञान में निश्चय वाले, दिशा, देश और मार्ग के ज्ञान से युक्त, क्षुध ा (भूख), पिपासा (प्यास) श्रम, त्रास, शीत, बात, गरमी, वर्षा से भय और ग्लानि को प्राप्त न होने वाले सत्पुरुषों को अभय देने वाले, शत्रुओं की सेना में फूट (भेद) डालने वाले, दुखियों का हित करने वाले, अपनी सेना के भय और स्थिति तथा प्रतिबन्ध के लक्षणों को जानने वाले, चर तथा दूत के प्रचार के जानने वाले, महारंभ के फल के ज्ञाता, इत्यादि लक्षणों से युक्त व्यक्ति को राजा को सेनापति (ध वजिनीपति) बनाना चाहिए।[1]

सेनापति के कृत्य :

सेनापति के कृत्यों के विषय में नीतिसार को दृष्टान्तित कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि सेनापति सदा उद्योग को प्राप्त हुआ, दिनरात सेना को यत्नपूर्वक रक्षित करता हैं तथा नदी, पर्वत, वन, दुर्ग में जहाँ–जहाँ भय हो वहाँ–वहाँ सेनापति अपनी सेना को व्यूहित करके गमन करें।[2] नीलकण्ठ भट्ट का व्यूहित से अभिप्राय व्यूह रचना से है।

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 97
2. नीतिमयूख : 97

व्यूह के प्रकार –

नीतिसार के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि व्यूह–मछली बाज, सुई गाड़ी (बैलगाड़ी), वज्र और सर्वतो भद्र छः प्रकार का होता है।[1]

कौटिल्य ने दण्डव्यूह, भोग व्यूह, मण्डलव्यूह, संहतव्यूह, असंहतव्यूह, चापव्यूह, चापकुक्षिव्यूह, बलयव्यूह आदि आठ प्रकार के व्यूह बताए हैं।[2]

व्यूह रचना –

प्राचीन भारत में अनेक प्रकार व्यूहों की रचना कर युद्ध करने की प्रमुख शैली (विशेषता) थी। नीलकण्ठ भट्ट ने भी इस शैली को अपनाकर व्यूह रचना के विषय में कहा है कि यदि आगे कुछ भय विदित हो तो राजा मकर व्यूह का अवलम्बन करके गमन करें, अर्थात बड़े मकर के आकार वाले व्यूह रचना करके गमन करें, अथवा बाज के दोनों पक्ष (पंख) के समान व्यूह की रचना कर गमन करें, अथवा सुई के समान नोंक वाली व्यूह की रचना कर गमन करें, और यदि पीछे भय हो तो बैलगाड़ी के आकार वाले व्यूह की रचना कर गमन करें, यदि पास से या दोनों ओर से भय हो तो बज्र के समान व्यूह की रचना कर गमन करें, और यदि चारों ओर से भय हो तो सर्वतोभद्र प्रकार के व्यूह की रचना कर सेना के साथ गमन करें।[3]

नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि भ्रष्ट सेना से युक्त हुआ लघु सेनानायक आगे आगे चले, बीच में कलत्रवर्ण, स्वामी, कोश और सामान्य धन लेकर गमन करें, अर्थात चलें।[4] व्यूह के दोनों दाहिने व बांए भाग में घोड़ों और घोड़ों के दायें–बायें भागा में रथ– रथ के पार्श्व भाग में हाथी, और हाथियों के पार्श्व भाग में अटवी (वनवासियों) की सेना चले, इन सबके पीछे सेनापति गमन करे। सेनापति थके हुए को आश्वासन देता हुआ धीरे धीरे स्वयं सेना समूह को लेकर गमन करे।[5] नीलकण्ठ भट्ट ने सेनापति के आगे पीदे यान कहा है अर्थात् आगे जाने वाला तथा पीछे जाने वाला दो सेनापति भी अलग–अलग होते हैं।

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 97
2. अर्थशास्त्र : अ0 5–6, अधि0 10
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 97
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 98
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 98

सेना के अंग –

युद्ध एक महत्वपूर्ण राज्यकर्म है अतः युद्ध के संबंध में निर्णय लेने एंव युद्ध को उचित प्रकार से संचालन करने के निमित्त महत्वपूर्ण गहन चिन्तन और मनन आवश्यक ही नहीं अपितु अपरिहार्य है, प्राचीन भारतीयों ने मंत्रणा की आवश्यकता व महत्व को समझा था। युद्ध के स्वरूप में अभिवृद्धि होने के कारण सैन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त कोष की आवश्यकता का अनुभव किया जाना स्वाभाविक है। अतः भारतीय राजशास्त्रियों ने कोष व मंत्रणा को भी सैन्य बल के रूप में स्वीकार कर षष्टांग सैन्यबल की व्यवस्था प्रतिपादित की हैं।[1]

आचार्य कामन्दक भावाभिव्यक्ति दर्शाते हैं कि यही मोल अर्थात पुस्तैनी आदि जनों का षडवर्ग चुरंगवल कहलाता। मंत्र, कोष, पैदल, सवार, रथ, हाथी, यह भी षडंग कहाँ है यही छः प्रकार का षडंग बल है और यथायोग्य अपनी सेना को निश्छिद्र जानकर व्यूहित करके शत्रु की विशेष सेना को प्रतिगमन करें।

उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि राजप्रज्ञा के सारस्वत प्रतिमान आचार्य कामन्दक ने सैन्य बल को स्वीकार किया है। सबसे पहले चार अंग चतुरंगणी सेना के अलग–अलग लक्षण व योग्यताएं बताने के बाद कहते हैं। कि अपने प्रगट कार्य में आचार वाले पैदल, अश्व, रथ, आरोहियों के यह लक्षण हैं। इनको यथायोग्य अपने–अपने कार्य में नियुक्त करें अर्थात जिस सैनिक का जिस स्थान, काल में उपयोग है उसे उस उपयुक्त स्थान पर नियुक्त करें।[2]

---

1. कामन्दक नीति सर्ग 18–श्लोक –18
2. स्मव्यज्जनाचारवतां पत्त्यश्रवरथवाजिनाम्
इति लक्षणेतेन युक्तान्कमेसु योजयेत–118.
कामन्दक कीयनीतिसार सर्ग –19 श्लोक

श्री दीक्षितार का कथन है कि भारत में धातु युग की उन्नति के साथ साथ युद्धकला में पर्याप्त विकास हुआ था।[1] डॉ0 के0एन0 दीक्षित का मत है कि सिन्धु घाटी सभ्यता के समय जनता चार वर्गों विद्वान वर्ग, योद्धा वर्ग, व्यापारी वर्ग एवं सेवी वर्ग में विभाजित थी।[2]

इस आधार पर संगठित समाज में सैन्य शक्ति का विकास निश्चित था, फलतः सिंधु साम्राज्य विस्तृत हुआ होगा डॉ0 वी0के0 मजूमदार ने लिखा है कि भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के महानिदेशक डॉ0 मार्टिमेर–हवीलर ने हड़प्पा के विशाल दुर्ग का विवरण प्रस्तुत किया है।[3]

ऋग्वेद काल से पूर्व ही भारत में एक ऐसी व्यवस्था बन चुकी थी जिसमें राज्य की जनता का एक विशेष वर्ग योद्धा वर्ग ही युद्ध में भाग लेता था, पुरातत्ववेत्ताओं ने जो अनुसंधान किए हैं उनमें बैलगाड़ियों के रूप में खिलौने ही नहीं मिले हैं वरन इक्के अश्ववाहन के नमूने के तांबे के सिक्के भी मोहनजोदड़ो के खंडहर में प्राप्त हुए हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में भारतीय स्थल यातायात के साधन के रूप में घोड़े, गधे व बैलगाड़ियों का प्रयोग ही नही करते थे वरन् इक्के (अश्व वाहन) का भी प्रयोग किया जाता था। मोहन जोदड़ो व हड़प्पा के व्यक्ति इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि सिंधु सभ्यता के व्यक्ति जल यातायात के लिए जल वाहिनों का उपयोग भी करते थे।[4]

पूर्व ऋग्वेद काल में सेनांग पदारोही तथा स्थारोही थे प्रगैतिहासिक काल तक भारत में मुख्य रूप से दो प्रकार के सैनिक बल थे– पदात्ति सैन्य बल और रथ सैन्य बल ऋग्वेद में वर्णित युद्धों विशेषतः दश राजाओं के युद्ध में भी इन्हीं सेनांग का वर्णन है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अश्व

---

1. War in Ancient India : V.R.R. Dixitar Page - 129
2. Pre Historical Civilization - Dr. K.N. Dixit Page .3132
3. The Mulitary System in Ancient India - B.K. Majumdar Page .27
4. भारत का प्राचीन इतिहास –डॉ0 सत्येकुत विद्यालकार पृष्ठ –85

का अनेकानेक स्थानों पर वर्णन है, परन्तु इनको पृथक सेनांग के रूप में प्रस्तुत किया गया था। ऐसा नहीं होता। संभव है कि युद्ध क्षेत्रों में अश्वों के प्रयोग का संदेश प्रसारित करने मात्र के लिए किया जाता हो। प्रस्तुत संदर्भ में डॉ0 दास का मत है कि ऋग्वेद काल में भी युद्ध में अश्वों का प्रयोग किया जाता था।[1]

ऋग्वेद में हाथियों का उल्लेख नहीं है केवल एक स्थल ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख है जिसमें हाथियों को सिर झुकाए शत्रु की ओर दौड़ते हुए बताया गया है। अतः मात्र इस वर्णन के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि ऋग्वेद काल में हाथियों का प्रयोग एक सेनांग के रूप में किया जाता था।

भारत एक विशाल देश है और आज से हजारों वर्ष पूर्व यह ओर भी अधिक विशाल था अतः साम्राज्य विस्तार की आशंका की पूर्ति के निमित्त बड़े सैन्य अभियान किए गए होंगे। फलतः भू आकृतियों के अनुरूप क्षिप्र प्रस्थान के लिए अश्वों का तथा जलमार्ग एवं जंगलों को पार करने के लिए हाथियों का प्रयोग आरंभ हुआ और इस प्रकार भारत में सेना का चतुरंग स्वरूप अस्तित्व में आया, क्योंकि जंगलों तथा जलमार्गों को रथ सेना पार नही कर सकती थी और रथ तथा पैदल सेना में अश्व सेना के समान क्षिप्रता नहीं थी अतः दूरस्थ युद्धरत सेना की आवश्यकताओ की पूर्ति तथा अन्य क्षिप्र कार्यवाहियों के लिए अश्वसेना की उपयोगिता स्वीकारी गई हैं रामायण विशेषकर युद्धकाण्ड में ऐसे अनेक उद्धरण हैं जिनसे यह स्थापित होता है कि युद्ध संबंधी समस्याओं पर विचार विमर्श किया जाता था। राम रावण दोनों ही अपने प्रधान सहयोगियों की युद्ध की स्थिति तथा युद्ध की समस्याओं पर विचार विमर्श करते थे।[2]

कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में भी षष्टांग सैन्यबल का वर्णन किया।[3] दिग्विजय की इच्छा से प्रस्थान करने वाले राजा रघु के पास छः प्रकार की सेना थी, यात्रा, पैदल, रथ, हाथी घोड़े, नौसेना एवं यातायात के मार्गों को साफ करने वाले तथा पथ प्रदर्शक थे। इन्हें कालान्तर में अष्टांग सैन्य व्यवस्था में दो भागों में बाँटा– विष्ट एवं देशिक बल कहा है।

1. ऋगवैदिक कल्चर – डॉ0 एस0सी0 दास पेज 223–26
2. युद्धकाण्ड – 17, 18, 35, 36,
3. रघुवंश : 4/26

स्मृतिकार मनु ने यद्यपि मंत्रणा और कोष के सैन्य महत्व को स्वीकार किया है परन्तु जिस स्थान पर उसने षष्टांग बल का वर्णन किया है उसकी विश्लेषणात्मक वयाख्या यह प्रतिपादित करती है। कि उनके 6 सेनांग आचार्य कामन्दक द्वारा वर्णित सेनांगों से भिन्न थे। मनु का मत है कि शत्रु के देश की ओर प्रस्थान करने से पूर्व राजा को चाहिए कि वह कपट वेशधारी गप्तचरों को शत्रु देश की प्रत्येक बात मालुम करने के लिए भेजें तथा अटविक भेद से प्रस्थान मार्ग को गमन योग्य बनवायें, तदुपरांत अपनी सैन्य शक्ति के लिए उचित व्यवस्था कर षष्टांग सेनांगों सहित प्रस्थान करें। मनु ने अपनी षष्टांग सैन्य व्यवस्था में हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, गुप्तचर एवं अटवीबल को मान्यता प्रदान की है।[1]

महाभारत के शान्तिपूर्व की व्याख्यानुसार षष्टांग बल में पैदल, रथ, अश्व, गज, कोष एवं अटवीबल को सम्मिलित किया है। षष्टांग बल के विकसित स्वरूप अष्टांगवल की चर्चा महाभारत के शान्तिपर्व में मिलती है, जिनमें पैदल, रथ, अश्व, और गज सेना को प्रमख सेनांगों तथा नौबल, चरबल, विष्टिबल एवं देशिक बल को सहायक सेनांग का स्थान प्राप्त हुआ है।[2]

कौटिल्य चतुरंगिणी सेना में विश्वास करते हैं चतुरंगिणी सेना के चार अंग हस्तिबल, अश्वबल, रथबल और पथिवल बतलाए हैं। इस चतुरंगिणी सेना के चार अंगों में हस्तिवल को सर्वोपरि महत्व दिया गया है। हस्तिबल का महत्व देते हुए कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है राजाओं की विजय हाथियों की सेना के आश्रित होती है। शत्रु, सेना, दुर्ग, छावनी मर्दन करने में हस्ति सेना कुशल होती है, क्योंकि इनके शरीर विशाल होते हैं हाथी युद्ध स्थल में मनुष्यों के प्राण नाश करने में समर्थ होते हैं।[3]

सोमदेव सूरि ने नीति वाक्यामृत में—गजबल, अश्वबल, रथबल और पदाति इन चार प्रकार की सेनाओं का उल्लेख किया है।[4]

---

1. मनुस्मृति : 7/185
2. शान्तिपर्व : 59/41
3. डॉ0 श्याम लाल पाण्डे: भारतीय राजशास्त्र प्रणेता पृष्ठ –146
4. 4. सोमदेव के राजनीतिक विचार पृष्ठ 246

विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित षष्टांग बल की व्याख्या को व्यवस्थित करने से पैदल, रथ, अश्व, गज, अटवी, मंत्र एवं दृष्टि रूप से युद्ध में कार्यरत नहीं होते। अतः कालान्तर में इन दोनों का सैन्य महत्व होते हुए भी उनको सेनांगों की श्रेणी में नहीं रखा गया हैं ।

मानसोल्लास के अनुसार आटविक सेना में :–

1. निषाद

2. म्लेच्छ

3. जंगली जाति के सैनिक होते थे।[1]

शुक्र ने चतुरंग सेना को दो श्रेणियों में विभक्त किया है –

1. यथा स्वगया

2. अन्वगया।[2]

इन दोनों प्रकार की सेनाओं को कर्म के आधार पर शुक्र ने पुनः तीन भागों –

1. देवी,

2. आसुरी,

3. मानुषी में विभक्त किया हैं।[3]

शुक्र ने स्वगया श्रेणी में पदाति सेना को तथा अन्यगमा श्रेणी में अश्व रथ तथा हाथी–सेना को रखा है क्योंकि पदाति सेना अपने पैरों से चलकर युद्ध क्षेत्र तक पहुंचती थी ओर पैदल ही शत्रु से संग्राम करती थी, जबकि गज, अश्व तथा रथ सेना के सैनिक तथा योद्धा अश्व रथ तथा हाथी पर बैठकर युद्ध में जाते थे और अपनी सवारियों पर बैठकर ही शत्रु से संग्राम करते थे।[4]

बल –

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य के महत्वपूर्ण अंगों में बल (सेना, दण्ड) को महत्व दिया है।

नीलकण्ठ भट्ट ने सप्तांग राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग बल (सेना, दण्ड) माना है। इस संबंध में वराहमिहिर को उदघृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने मुहूर्त आदि की अपेक्षा बल सेना की प्रधानता कही है। इस प्रकार उन्होंने बल शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। बल की महत्ता

---

1. मानसोल्लास : 2/6
2. शुक्रनीति : 4/864
3. शुक्रनीति : 4/865
4. शुक्रनीति : 4/866
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 79

को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि सेना तथा कोश के अधीन ही राज्य होता हैं अतः इन बलों से हीन राजा दुर्बल माना गया है।[1]

याज्ञबल्क्य को दृष्टान्तित कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जिस प्रकार एक पहिए से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार पैरुष के बिना भाग्य या द्वेव की सिद्धि नहीं होती है।

माघ के वचनों को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि विद्वान पुरुष न तो द्वेव के भरोसे रहता है और न पुरुषार्थ पर ही आश्रित रहता है। किन्तु वह शब्द व अर्थ दोनों की अपेक्षा करने वाले सुकवि की भांति द्वेव व पुरुषार्थ दोनों की अपेक्षा करता है।[3] क्योंकि कहीं–कहीं पर तो परिश्रम करने पर भी फल की प्राप्ति नहीं होती।

मयूखाकार ज्ञान (ज्योतिशास्त्र आदि का ज्ञान) को मंत्रशक्ति, कोश तथा सैन्य बल को प्रभुशक्ति तथा परिश्रम और विकम को उत्साह शक्ति मानते हैं।[4]

आचार्य कौटिल्य ने भी बल को शक्ति के नाम से संबोधित किया हैं उन्होंने भी मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति व उत्साह शक्ति तीन प्रकार की बतलाई है। वह इन तीन प्रकार के बलों से संपन्न राजा को श्रेष्ठ तथा इन बलों से हीन राजा को दुर्बल मानते हैं।[5]

कामन्दकीय वचनों के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट ने 6 प्रकार का बल माना है।

1. मौल बल   2. भूत बल   3. श्रेणी बल

4. सुहृद बल   5. द्विषद बल   6. आटविक बाल

1. पुस्तैनी नौकरों का बल या एक प्रकार की शत्रु सेना को नीलकण्ठ भट्ट ने मौन बल कहा है।

2. आवश्यकता होने पर पुनः भरती किए हुए नौकरों का बल भूत बल कहलाता है।

3. प्राचीन भारत में कुछ लोग श्रेणी के रूप में संगठित होकर शस्त्रों का उपयोग कर

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ 79
2. नीतिमयूख पृष्ठ 79
3. नीतिमयूख पृष्ठ 79
4. नीतिमयूख पृष्ठ 79–80
5. कौटिलीय अर्थशास्त्र अध्याय 2
6. नीतिमयूख पृष्ठ 80

अपनी जीविका उपार्जन करते थे। आवश्यकतानुसार राजा इन्हें सेना में भी स्थान दे दिया करता था। इस प्रकार ये युद्ध प्रेमी लोग राज्य की सेना का एक अंग बन जाते थे। इस प्रकार की सेना को कौटिल्य, कामन्दक, नीलकण्ठ ने श्रेणी (समूह) बल की उपाधि दी है।

4. सुहृद बल के अन्तर्गत मित्र राजाओं की कुछ सेना अपने मित्र राजा की सहायता हेतु युद्धकाल में रहती थी।

5. नीलकण्ठ भट्ट का द्विषत बल से अभिप्राय शत्रु की सेना का जो अंश परस्पर प्रतिज्ञावद्ध होकर अथवा फूट डालकर आ मिलने के कारण विजिगीषु राजा के अधीन रहती थी, माना है।

6. मैदान में, बन में, युद्ध करने व बनवासी, पर्वतवासियों की सेना को नीलकण्ठ ने आटविक बल की उपाधि दी हैं

अतः उपरोक्त छः प्रकार वाली सेना की व्यूह रचना (कवायद बन्दी) करके राजा शत्रु पर चढ़ाई करें।[1] राजा को यदि कहीं दूसरे (दूरगामी) देश में जाना पड़े तो अपनी संपूर्ण राजकृत सामग्री के साथ जाना चाहिए।[2]

अच्छे मार्ग व समय में पुस्तैनी मौल बल से संयुक्त होकर राजा गमन करे। मौल बल ही दीर्घकालीन होने के कारण क्षय और व्यय सहने में समर्थ होता हैं बुद्धिमान इन कार्यों में भूत बल को वर्जित रखें। क्योंकि इनके दीर्घकाल तक एक कार्य में लगने तथा दीर्घकाल तक मार्ग का खेद होने से भेद की संभावना हीेत हैं। शत्रु सेना की अधिकता होने से तथा दीर्घकाल तक एक कार्य में लगे रहने के खेद से नित्य परदेश में रहने और परिश्रम से अवश्य ही खेद उपस्थित रहता है।[3]

स्वामी का परित्याग करना ही भेद हैं इसी प्रकार अन्य राजकृत सामग्री जैसे सेना, आदि इनके गुण दोषों पर विचार करना चाहिए। किस समय किस सेना को ग्रहण करना चाहिए के विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने कामन्दकीय वचनों को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि अच्छी पुस्तैनी सेना से अवश्य ही जीत होती है और क्षय और व्यय के सहने में समर्थ राजा अपने समान राजा पर चढ़ाई करे और यह भी जान ले कि शत्रु राजा भी क्षय और व्यय को सहन कर सकता हैं।[4]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 80
2. वही वही
3. नीतिमयूख पृष्ठ 80–81
4. नीतिमयूख पृष्ठ 81

गज बल एवं गज बल सेना की उपयोगिता–

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं में कामन्दक, नीतिमयूख, शुक्र, कौटिल्य, मनु, आचार्य, प्रवर सभी ने हस्तिबल के महत्व को स्वीकारते हुए अपने अपने विचार व्यक्त किए हैं।

आचार्य कामन्दक हस्तिबल का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं कि राजा को श्रेष्ठ हस्तिबल का संग्रह करना चाहिए क्योंकि सुगन्धयुक्त मद के चुआने तथा जल को उछालने दाँतों के ताड़न से पाषाण विदीर्ण करने वाले, नीले मेघ के समान प्रभाव वाले हाथियों में राजा का राज्य बँधा हुआ है। मद और सतगुण सम्पन्न एक ही गजराज अपने आरोपी सहित निश्चय ही शत्रु सेना का संहार करता हैं राजाओं की विजय हाथियों के ही अधीन हैं अतः राजा को हाथियों के बल का विशेष संग्रह करना चाहिए नृप को शीघ्रगामी सवारी व हाथी सवारी व हाथी पर खजाना रखना चाहिए, जहाँ राजा हो वहीं खजाना स्थापति करें, कारण कि राजापन कोष के ही अधीन है।[1]

हस्तिबल का उपयोग किन स्थलों पर किया जाए यह स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रवर लिखते हैं कि जल स्थल वृक्षों के संकट में साधारण विषभ व समस्थान में तथा परिखा महल पर्वत के विदारण में हाथियों की सेना से ही विजय होती हैं गगन में प्रथम सम्मति कर अग्रगामी होना वन और दुर्गम स्थल में प्रवेश कर जाना, जहां मार्ग नहीं है वहां मार्ग देना, नदी समूहों के घाट उतरने लायक कर देना, जलों में अवगाहन, पारगमन, का मार्ग करना, एक ही अंग से विजय देना, संगठित हुई सेना को छिन्न भिन्न कर देना तथा छिन्न भिन्न सेना को घेरकर इकट्ठी कर देना। प्राप्त हुए भय का निवारण करना, परिखा

---

1. सुगन्धिदानच्युतशीकरेष दन्ताभिघातस्फुटितोपलेषु।
गजेषु नीलाभ्रसमप्रभेषु राज्यं निब्ङाद्धं पृथिवीपतीनाम्।। –कामन्दकीयनीतिसार सर्ग –15, श्लोक 10
एकोऽपि वारणपतिर्द्विषतामनीकं
व्यक्तन्निहन्ति मदसत्त्वगुणोपपन्नः।
नागेषु हि क्षितिभुजां विजयो निबद्ध–
स्तस्माद्गजाधिकबलो नृपतिः सदा स्यात्।।62।।
गजेष्वारोपितः साधु शीघ्रयानैरधिष्ठितः ।
यत्र राजा तत्र कोषः कोषाधीना हि राजता।। 16।। –कामन्दकीयनीतिसार सर्ग 19 श्लोक 62,16

और द्वार को तोड़ देना, कोप नीति के भय से रक्षा करना, यह हाथियों का कार्य है।[1]

युद्ध में हाथियों का प्रयोग उपयुक्त समय पर निर्धारित करते हुए आचार्य कामन्दक कहते हैं कि जिस समय आकाश में मेघ समूह सजल हो, वह समय हाथियों के चलने का है इससे दूसरा घोड़ों के गमन का है। जिस समय गरमी, वर्षा, तुषार विशेष न हो और खेती धान्य सम्पन्न हो, यह गमनकाल कहा है, घोड़ों से समस्थान हाथियों से विषम स्थान तथा सजल और पर्वतों के स्थान गाहे जाते हैं इस कारण हाथी और अपने पक्ष बल से मिश्रित होकर यथावल देखभाल करके मरूदेश में जल गिरने के समय, अनूपदेश, जल वाले देश, कक्ष देश दुर्ग इन पर गर्मियों में गमन करें और मिश्र देश देख जिसमें अपनी अनुकूलता हो। उसी समय देश पर विजय करने के ध्येय से प्रस्थान करें।[2]

आचार्य कामन्दक युद्ध में हस्तिबल के उपयोग में निषिद्ध काल को बताते हुए लिखते हैं कि ग्रीष्मकाल में हाथियों को सुख देने के निमित्त जल वाले स्थान में हाथियों को निवास देता हुआ गमन करें, यदि अच्छा जल न मिले तो गर्मी के अधिक ताप से हाथियों को कुष्ठ हो जाते हैं। स्वास्थ्य दशा में हाथियों के शरीर में गर्मी प्रज्जवलित रहती है और परिश्रम करने से तो वह धूप की गर्मी के बढ़ने से हाथियों को नष्ट करती है। सब ही जीव गर्मी के दिनों में बिना जल के पराभव होते हैं और हाथियों को जल न मिले तो गर्मी से तृप्त शरीर होने से अन्धे हो जाते हैं।[3]

---

1. जल स्थले च द्रुमसंकटे च साधारणे वा विषमे समेऽपि।
   प्रकारहर्म्याद्रिविदारणे च ध्रुवे जयो नागवतां बलानाम्।।2।।
   ——कामन्दकीयनीतिसार सर्ग – 15, श्लोक –12

   ..प्रयाणे पूव्रजापित्वं वनदुर्गप्रवेशनम्।
   अकृतानाञ्च मार्गाणां तीर्थानाञ्च प्रवर्त्तनम्।। 1।
   तोयावतारसन्तारावेकांड़ जिवयस्तथा।
   अभिन्नानामनीकानां भेदनं भिन्न संग्रहः।। 2।।
   विभषिकाविघातश्च प्राकारद्वार भुञ्चनम्।
   कोषनीतिभयत्राणं हस्तिकर्म प्रचक्षते ।।3।।
   –कामन्दकीयनीतिसार सर्ग –19, श्लोक 1, 2, 3,

2. कालो गजानां सजलन्धजालो यातुं तदन्यज्च तुरङ्मानाम्।
   नत्युष्णवर्षोष्णतुषारयुक्तः संपन्न शस्यस्त्विति कालसम्पत्।। 36।।
   समं तुरंगैर्विषम च नागैस्तथा जलाढयं स महीधरं च।
   नागावृतं पक्षबलानुपेतैर्यथाबलञ्च प्रसमीक्ष्य मिश्रम्।। 39।।
   मरूप्रगाढं पतति स्म ताये ग्रीष्मेऽप्यनूपोदककक्षदुर्गम्।
   मिश्रज्च संवीक्ष्ययथासुखज्च गच्छेन्नरेन्द्रोविजयाय देशम्।। 40।।

3. ग्रीष्मे प्रभूताम्बुवनेन यायान्निर्वासनार्थ करिणां यथा तु।
   ऋतेऽम्भसोग्रीष्मकृतात्प्रतापाद्भन्तिकुष्ठानिमतंड़जानाम्।। 7।।
   स्वस्थ्यक्रियाणामपि कुज्जराणामुष्मा शरीरेष्वभिजाज्वलीतिः ।। 8।।
   सर्वाणि सत्त्वानि खलूष्मकाले विनाम्बुना यान्तिपरामवस्थाम्।
   अन्धत्वमुष्णप्रवतिप्त कायाः प्रयान्ति सद्यः करिणोऽपिबन्तः।।9।।
   –कामन्दकीयनीतिसार सर्ग – 15, श्लोक 36, 39, 40 एवं 7, 8, 9,

हस्तिबल के महत्व और उपादेयता को प्रगट करते हुए आचार्य प्रवर लिखते हैं कि मुख्य हस्त्यारोही के मारने में तथा रथी के मारने में 5,000 सहस्त्र मुद्रा दें और मुख्य पैदल के मारने में एक सहस्त्र पुरुस्कार दें।[1] इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में गज सेना ने महत्वपूर्ण स्थान स्थापित कर लिया था तथा यह चतुरंगिणी सेना का मुख्य शक्तिपुंज था।

ऋग्वेद काल में हाथियों के सांग्रामिक उपयोग की विस्तृत जानकारी ऋग्वेद से प्राप्त नहीं होती है। परन्तु एक स्थान पर वर्णन मिलता है। कि हाथी पर शासन करने वाले अंकुशक के समान ही भगवान सब जीवों पर अंकुश रखता है उसके समान ही शत्रुओं का दमन तथा स्वजनों का कल्याण करता है।[2]

ऋग्वेद के अनेकानेक मंत्रों में 'इम' और 'वारण' शब्दों का प्रयोग हुआ हैं ऐरावत नामक हाथी इन्द्र का वाहन था, इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद कालीन भारतीय हाथी की सांग्रामिक उपयोगिता को स्वीकार करते थे और उन्होंने हाथी को सांग्रामिक कार्यों के लिए पालना प्रारंभ कर दिया था क्योंकि हाथी एक विनाशक पशु था और शत्रु दलन के लिए उसका उपयोग हो सकता था।[3] आर्यों ने अनार्यों के दुर्गों के द्वारों तथा प्राचीरों को तोड़ने में हाथियों को उपयोगी पाया और कालान्तर में दूर तक राज्य विस्तार के लिए सैन्य अभियान में सामान ल जाने तथा नदी आदि को पार करने में हाथी उपयोगी ही सिद्ध नहीं हुए वरन् हाथी पर बैठकर शत्रु का विनाश भी तेजी से किया जा सकता था। अतः रामायण तथा महाभारत काल तक हाथियों का सांग्रामिक उपयोग विकसित हो गया। हाथी के सांग्रामिक महत्व के कारण ही प्राचीन भारत में विशेषकर महाभारत तथा उत्तर महाभारतकालीन भारतीयों ने संग्रामों में हाथियों का अधिकाधिक मात्रा में प्रयोग किया है।

महाभारत काल में हस्ति सैनिक के संकेत मात्र पर 'हाथी शत्रु' के पैदल रथी तथा अश्वारोहियों का विनाश कर उसके हस्तिबल को पराजित करने के अनेकानेक उपाय करता था।[4]

---

1. तदर्थ कुञ्जरवधे प्रदानं स्यन्दनस्य च।
   सहस्त्रञ्च चारिवधे पतिमुरव्यधे स्मृतम्।।
   – कामन्दकीय नीतिसार सर्ग श्लोक – 20
2. ऋग्वेद 10/106/6
3. ऋग्वेद 4/4/1 एवं 8/33/8
4. [illegible] – [illegible]

मनु का मत है कि अल्पोदक (थोड़े पानी) में हाथ का प्रयोग करना चाहिए।[1] महाभारत के शान्तिपर्व में आया वाण के अनरूप ही कौटिल्य ने हाथियों को गतिमान दुर्गों की संज्ञा दी है।[2]

आचार्य कौटिल्य ने हस्त्यध्यक्ष के कार्यों, गजशाला की व्यवस्था, हाथी परिचर्या, हाथियों की पहचान एवं उनका पकड़ना, हाथियों का आहार व उनकी शोभा[3] का सविस्तार वर्णन करने के साथ–साथ कार्य भेदानुसार, हस्तिभेद, प्रशिक्षण, हस्ति परिचारण आदि का वृहद् वर्णन किया हें कौटिल्य के अनुसार हाथियों को उपस्थान, संवर्तन, संयान, वधावध, हस्तियुद्ध, नागरायण तथा सांग्रामिक प्रकार का प्रशिक्षण देना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि सांग्रामिक हाथी को कवचित रखा जाए।[4] हस्तिकर्म के संबंध में कौटिल्य ने लिखा है कि अपनी सेना के आगे आगे चलना, बिगड़े हुए मार्गो को बनाना, अपनी सेना के पार्श्वों से शत्रु को हटाना, नदी व जलाशयों की गहराई नापज्ञा तथा उन्हें पार करना, शत्रु के प्रहार से अपनी सेना की पंक्तिवद्ध होकर रक्षा करना, शत्रु में घुसकर उसे तितर बितर करना, अपनी तितरबितर सेना को एकत्र करना और उनकी रक्षा करना, शत्रु के शिविर में आग लगाना तथा अपने शिविर की आग बुझाना, संग्राम में विजय प्राप्त करना, शत्रु सेना के सैनिकों को पकड़ना तथा अपने सैनिकों को छुड़ाना, शत्रु का हनन करना तथा उसे कुचल डालना, शत्रु को हस्तवद्ध में पराजित करना, अपनी सेना की शोभा बढ़ाना आदि हस्तिकर्म हैं।[5]

सिकन्दर के आक्रमण के समय चंद्रगुप्त की सेना में 9000 हाथी थे और समझौते में चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकश को 500 हाथी दिए थे। प्राचीन आचार्य सांग्रामिक कार्यों के निमित्त हाथी के प्रशिक्षण पर बल देते थे क्योंकि अप्रशिक्षित हाथी शत्रु सेना की अपेक्षा अपनी ही सेना का ही अधिक विनाश करता है यह सर्वविदित है कि पोरस–सिकन्दर युद्ध में पोरस की सेना के विगड़कर पीछे भागने वाले हाथियों ने पोरस की सेना को अत्यधिक क्षति पहुंचाई थी। इस प्रकार के और अनेक उदाहरण भारतीय सैन्य इतिहास में उपलब्ध हैं।

---

1. मनुस्मृति : 7 / 192
2. अर्थशास्त्र : 10 / 4
3. अर्थशास्त्र : 2 / 31
4. अर्थशास्त्र : 2 / 32
5. अर्थशास्त्र : 10 / 4

आचार्य शुक्र ने हाथियों के लक्षण, उनके प्रकार, विवरण तथा सांग्रामिक महत्व का वर्णन आचार्य कौटिल्य जैसा ही प्रस्तुत किया है।[1] शुक्र का मत में एक चौथाई सैन्य शक्ति हाथियों की होनी चाहिए।[2]

आचार्य सोमदेव ने भी चतुरंगणी सेना में गजारोही सेना को सबसे अधिक उपयोगी माना हैं वह भी कौटिल्य के समान ही राजा की विजय गजसेना के आश्रित बताते हैं क्योंकि हाथी अकेला होने पर भी अपने आठ अंगों द्वारा युद्ध कर शत्रु का नाश करता है इसलिए हाथी को अष्टायुधधारी कहा गया है। हाथी के लिए आठ आयुध उसके चार पैर, दो दांत, एक सूड़ और एक पूंछ है।[3]

नीलकण्ठ भट्ट ने अपने बल निरूपण में अपने पूर्ववर्ती व समकालीन राजशास्त्र प्रणेताओं के समान ही गज सेना की उपयोगिता पर सविस्तार प्रकाश डाला हैं चतरंग बलो में कौटिल्य गज सेना को सर्वोच्च मानते हैं। उन्होंने नीतिमयूख में हस्तिसेना की उपयोगिता व श्रेष्ठ हाथी के लक्षणों का वर्णन निम्नप्रकार किया हैं[4]

हाथियों की जातियाँ-

नीलकण्ठ भट्ट ने हाथी की चार जातियां बताई हैं।

1.. भद्र जाति-

वराहमिहिर के मत को उद्घृत कर भद्र जाति के हाथी का वर्णन करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि शहद के समान रंग के दांत वाले, अवयवों के विभाग से परिपूर्ण, बहुत ही स्थूल, दुर्बल कार्यक्षम, तुल्य अंगों से युक्त धनुषाकार वाली, पीठ की हड्डी वाला तथा सुअर के समान वर्तुलाकार जानु और कमर वाले हाथी भद्रसंज्ञक होते हैं।[5]

2. मंद जाति -

जिस हाथी को छाती व शरीर के मध्य वाला भाग ढीले हो, पेट लम्बा हो, स्थूल चमड़ा, कण्ठ पेट, और पूँछ से जुड़ा हो तथा सिंह के समान दृष्टि हो वह हाथी मंद संज्ञक होता है।[6]

3. मृग जाति -

जिस हाथी के नीचे के होंठ, पूँछ के बाल और लिंग छोटे हों तथा पैर, कण्ठ, दांत, सूड, कान, छोटे हों और आँखे बड़ी बड़ी हो तो वे हाथी मृग संज्ञक जाति के होते हैं।[7]

---

1. शुक्र नीति : 4/894-904
2. शुक्र नीति: 4/844
3. नीतिवाक्यामृतम् : वार्ता 3 समुद्देश्य 22
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 81
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 82
6. नीतिमयूख : पृष्ठ 82
7. नीतिमयूख : पृष्ठ 82

4. मिश्र जाति-

नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि पूर्वोक्त –भद्र, मंद, मग जाति के लक्षणों से उपयुक्त जो हाथी हैं उसे मिश्र कहते हैं।[1]

इसी विषय में शुक्र ने कहा है कि जिस हाथी के दांत मधु के समान हों जो बलवान हो, जिसके अंग समान हों जिसका आकारगोल हो, सुन्दर मुख हो तथा अंग अच्छे हों ऐसे हाथी को भद्र कहते हैं। जिसकी कोख स्थूल हो, सिंह के समान दृष्टि हो, गला और कंठ बड़े हों, अंग मध्यम हों, लम्बी काया हो, उस हाथी को मंद कहते हैं। जिसके कण्ठ, दांत, कान, सूंड़ आदि पतले हों और नेत्र स्थूल हों, हृदय ओष्ठ और लिंग यह सब सुन्दर हों तथा कद छोटा हो। उस हाथी को मृग कहते हैं। तथा जिसमें उपर्युक्त तीनों प्रकार के हाथियों के लक्षण व चिन्ह विद्यमान हों वह मिश्र गज कहलाता है।[2]

हाथियों का प्रमाण -

नीलकण्ठ भट्ट ने हाथियों के प्रमाण (लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई आदि) का उल्लेख करते हुए कहा है कि मृग जाति के हाथी की ऊँचाई पाँच हाथ, पूँछ से लेकर कुंभ तक लम्बाई सात हाथ और मध्य की मोटाई आठ हाथ होती है। मृग जाति के हाथी की ऊँचाई में एक हाथ बढ़ाने से मन्द की और दो हाथ बढ़ाने से भ्रद की ऊंचाई आदि का प्रमाण होता है। तथा मिश्र जाति के हाथियों की ऊंचाई आदि का प्रमाण अनिश्चित होता है।[3]

प्रमाण का पुनः उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि मन्द हाथी की ऊंचाई छः हाथ, दीर्घता आठ हाथ होती है। पेटी की दीर्घता आठ हाथ। भद्र की ऊंचाई सात हाथ, दीर्घता नौ हाथ तथा पेट की दीर्घता 10 हाथ। लेकिन छोटे हाथियों की दीर्घता और उन्नति को उपर्युक्त आधार पर ही कल्पित करने के लिए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है।[4]

हाथियों के मद का लक्षण -

पूर्व वर्णित चार प्रकार के हाथियों केमद का वर्णन करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि भद्र जाति के हाथी का मद हरा, मन्दजाति के हाथी का मद हल्दी के समान, पीला, मृग जाति के हाथी का मद काला, और मिश्र जाति के हाथी का मद मिश्रित वर्ण का होता है। यह उनकी अपनी सूझ है।[5]

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ 82
2. शुक्रनीति अध्याय 4, पृष्ठ 158
3. नीतिमयूख पृष्ठ 82
4. नीतिमयूख पृष्ठ 82
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 82

हाथियों के शुभ लक्षण –

हाथियों के शुभ लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि ताम्रवर्ण के होठ, ताल और मुख वाला, घरों में रहने वाले पक्षियों के समान नेत्र वाला, स्निग्ध और उन्नत क्षैंत के अग्रभाग वाला, विस्तीर्ण और दीर्घ मुख वाला, धनु के समान उन्नत, दीर्घ निगूढ़ और निमग्न पृष्ठ वंश वाला, कछुए के समान कुभों में एक एक सूक्ष्म रोम वाला, विस्तीर्ण कान, हनु, नाभि, ललाट, और लिंग वाला, कछुए के समान अट्ठारह या बीस नख वाला, तीन रेखाओं से युक्त वर्तुलाकार (सूंडवाला तथा सुगन्धयुक्त मदार्द्र) सूंड वाला हाथी शुभ होता हैं पुनः नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि हाथी के मूल मध्य और अग्र भाग में कमशः देवता, दैत्य और मनुष्य निवास करते हैं।

हाथी के अशुभ लक्षण –

नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि यदि हाथी के दक्षिण भाग का दाँत जड़ से टूट जाय तो राजा को भागने का भय, मध्य से टूट जाय तो देश को भागने का भय, अग्र भाग से टूट जाय तो सेना को भागने का भय रहता है। यदि वाम भाग का दाँत जड़ से टूट जाए तो कमशः राजपुत्र, पुरोहित, साधन, पति, सेना, स्त्री और प्रधान पुरुष के मरने का भय रहता है।[2]

पुनः नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि यदि हाथी के दोनों दाँत टूट जाएं तो राजा के संपूर्ण कुल का क्षय होता है। यदि कोई हाथी शुभ्र ग्रह के लग्न (वृष, मिथुन, कर्क, कन्या, तुला, धनु और मीन) शुाि तिथि (रिक्ता तिथि को छोड़कर) शुभ नक्षत्र (दारूण उग्र, नक्षत्र को छोड़कर शेष नक्षत्र में पैदा होता है तो राजा के लिए शुभ होता है और यदि विपरीत अवस्था में पैदा होता है तो अशुभ होता है)।[3]

यदि वाम भाग का दाँत दूध वाले मधुर फल वाले वृक्षों के घर्षण या नदी को विघटित करने पर मध्य भाग से टूट जाए तो शत्रु नाश करता है इसके विपरीत (दुष्ट वृक्षों के घर्षण से वाम दन्त का अग्र या मूल भाग टूट जाए) हो तो शत्रु की वृद्धि करता है।[4] यदि हाथी अपनी इच्छा से बल्मीक, स्थाणु (शखा रहित वृक्ष) गुल्म, घास या अन्य किसी वृक्ष का मंथन करते–करते हर्षित दृष्टि और ऊँचा करके तेज गति से यात्रा के अनुकूल चले, तथा हौंदा कसने के समय जल विन्दु उड़ावे, गर्जना करें, मदयुक्त हो जाय, या सूँड से दाहिने दाँत को लपेटे तो जय देने वाला होता है।[5] यदि चलते चलते हाथी की गति अचानक रुक जाए, कानों का हिलना बन्द हो जाय, अत्यन्त दीनता पूर्वक सूंड़ को भूमि पर रखकर धीरे धीरे लम्बे सांस लेकर चकित और अर्धोन्मिलित दृष्टि हो जाय, बहुत देर तक सोएं, उल्टा चलने

1. नीतिमयूख पृष्ठ 83
2. नीतिमयूख पृष्ठ 83
3. नीतिमयूख पृष्ठ 83
4. नीतिमयूख पृष्ठ 83
5. नीतिमयूख पृष्ठ 83

लगे, अभक्ष्य वस्तु को खाने लगे, तथा बार–बार रक्त मिश्रित पाखाना करें तो राजा के लिए भय करने वाला होता है।[1] यदि हाथी को पकड़कर ग्राह जल में प्रवेश कर जाय तो राजा का नाश, और ग्राह को हाथी जल से बाहर निकाल दें तो राजा की वृद्धि होती है।[2]

गजबन्धन भूमि –

हाथी के बाँधने के स्थान का वर्णन करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि भद्र मन्द्र मृग तथा मिश्र जाति के हाथियों के लिए सफेद लाल, पीली, भूमि बन्धन स्थान होने पर पुष्टिकाकरक तथा वृद्धि प्रदान करने वाली होती है। तथा ऐसे स्थानों पर हाथियों को बाँधने से राजा को यश तथा सुख प्राप्त होता है।[3]

गजशाला–

गजशाला के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि गज शाला का कक्ष चौबीस हाथ बड़ा तथा मध्य भाग अड़तालीस हाथ होना चाहिए एवं मध्य के विस्तार से दोगुना बड़ा होना चाहिए और उसके खंभे शाला के विस्तार के अनुसार ऊँचे होने चाहिए।[4]

गजशाला के खम्भों के परिणाम का उल्लेख करते हुए मीमांसाकार ने कहा है कि बड़ी शाला 16 खंभों से युक्त तथा मध्यम शाला 15 खंभों से युक्त होनी चाहिए। वैसे खंभों के प्रमाण नीलकण्ठ भट्ट ने अनेक बताए हैं। लेकिन हाथी के बाँधने की रस्सी के अनुसार अथवा उसके आधे भाग के अनुसार ही खंभों का प्रमाण निर्धारित किया जा सकता हैं।[5]

गजशाला के द्वार के विषय में नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि हाथी के आकार के समान द्वार की ऊंचाई होनी चाहिए। द्वार का विस्तार हाथी के तिगुने से कम होना चाहिए तथा कहीं कहीं वह कमी छटवें भाग के बराबर होने की बात कहते हैं। उक्त प्रकार का शाला द्वार भी उन्होंने श्रेयस्कर बताया है।[6]

गजबन्धनार्थ वृक्ष –

जिस वृक्ष से हाथी को बाँधा जाना चाहिए, उसका उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि चन्दन, अर्जुन, श्रीष, महुआ, देवदार, सरल, शाल, रोहणी, चंपक, खैर, रथ, कदम्ब, अशोक, सीता, शिव आदि के वृक्ष हाथियों को बाँधने के लिए पुष्टिकारक होते हैं। इसके अतिरिक्त हाथी को बाँधने के लिए सारवान तथा दूसरे वृक्ष भी श्रेयस्कर बताए गए हैं।[7]

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ 83
2. नीतिमयूख पृष्ठ 83
3. नीतिमयूख पृष्ठ 83
4. नीतिमयूख पृष्ठ 83
5. नीतिमयूख पृष्ठ 83
6. नीतिमयूख पृष्ठ 84–85
7. नीतिमयूख पृष्ठ 83

पूर्व की ओर मुँह करके जो हाथी बाँधा जाता है वह शीघ्र ही पराक्रम दिखाता है, तथा राजा को समर (युद्ध) में विजय दिलाता है और हाथी दीर्घायु को प्राप्त करता है। जो हाथी उत्तर की ओर मुँह करके बाँधा जाता है वह अपने स्वामी के धन में वृद्धि करता है। चिरंजीव होता है, पुष्टि प्राप्त करता है एवं युद्ध के समय पराजित होता है।[1]

हाथी को अन्य दिशाओं की ओर मुख करके बाँधने पर अनिष्ट का वर्णन करते हुए नीलकण्ठ ने कहा है कि यदि हाथी को दक्षिण की ओर मुँह करके बाँधा जाता है तो ऐसा हाथी जीवित ही नाश कारक होता है। और यदि उसका मुंह पश्चिम की ओर करके बांधा जाय तो वह शारीरिक रोग और कष्टप्रदायक होता है, तथा राजा के बन्धन को नष्ट करता है। इसलिए दक्षिण और पश्चिम दिशा हाथी के बाँधने का मुख्य स्थान होना चाहिए।[2]

अन्त में हाथी के बाँधने के स्तम्भ (खूंटों) का उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ ने कहा है कि हाथियों के बाँधने के लिए खूँटा यदि ईशान (पूर्व और उत्तर कोना) दिशा में हो तो ऐसा स्थान राजा तथा हाथी के लिए कल्याणकारी होता है तथा अन्य दिशाओं में बाँधना अनिष्टकारी होता है। हाथी के बाँध ाने का स्तम्भ बड़ा दस हाथ का, मध्यम नौ हाथ का और छोटा नौ हाथ का, और इन स्तंभों को गाड़ने के लिए गड्डा चार हाथ का होना चाहिए, इससे अधिक व कम कल्याणकारी नहीं होता है।[3] नीलकण्ठ भट्ट ने हाथियों के लिए मद जनक औषधियाँ भी हस्त चिकित्सा के अनुसार देने का प्रावधान किया है।[4]

अश्व बल–

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने अश्व बल को सेना का दूसरा महत्वपूर्ण अंग माना हैं। अश्व सेना को संगठित करने, अश्व के गुणों व लक्षणों को निर्धारित करने, अश्व सेना के विचरण योग्य भूमि निर्धारित करने, अश्व सेना के कार्यों को निर्धारित करने आदि विषयों पर आचार्य कामन्दक, मनु, कौटिल्य व नीलकण्ठ भट्ट ने अपने–अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ 85
2. नीतिमयूख पृष्ठ 85
3. नीतिमयूख पृष्ठ 86
4. नीतिमयूख पृष्ठ 86

अश्वसेना के विशेष कार्य –

आचार्य कामन्दक ने अश्व सेना को गज सेना के बाद स्थान दिया है। आचार्य निर्देशित करते हैं कि युद्ध भूमि में जाने से पूर्व राजा हाथी, रथ घोड़ों की परिचर्या तथा योद्धाओं के समूह को पृथक – पृथक देखें तथा अपने विवक्षित मुख्य गजराज और विधानयुक्त घोड़ों का भी निरीक्षण करे।[1] तत्पश्चात् सशक्त अश्व सेना सहित राजा के जिस समय गर्मी, वर्षा, तुषार अधिक न हो तथा खेती धन संपन्न हो।[2] ऐसे समय समस्थानों पर[3] मरूदेश में जल गिरने के समय में, अनूपदेश, जलवाले देश, कक्षदेश, दुर्ग इन पर गर्मियों में गमन करें और मिश्र देश देख जिसमें अपनी अनुकूलता हो उसी प्रकार देश पर विजय करने हेतु गमन करें।[4]

आचार्य कामन्दक अश्व सेना के योग्य युद्ध भूमि के विशेष लक्षणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि 'अल्प वृक्ष और अल्प पाषाण वाली अल्प छिद्र, लता वाली, दरार रहित, स्थिर कंकड़ रहित, पंक और दलदलहीन भूमि अश्व के विचरण योग्य होती है। अर्थात सुदृढ़ चट्टान वाली भूमि में अश्व सेना विचरण कर सकती है तथा ऐसी भूमि में ही विजय के कार्य कर सकती है''। उन्होंने यह भी बताया कि रथ, घोड़े और हाथियों के भूमि की सर्वत्र स्थिरता होनी चाहिए और दरारयुक्त तथा पोली भूमि हाथी, घोड़ों के योग्य नहीं है।[5]

---

1. सुखेपगम्यः स्मितपूर्वभाषी प्रियं वदेदृत्त्यधिकं च दद्यात।
   प्रियेण दानेन च सङ्गृहीतास्त्त्रूजन्ति भर्त्तर्यपिजीवितानि।। 49।।
2. कालो गजानां सजलभजालो यातुं तदन्यञ्च तुरंगमानाम्।
   नात्युष्णवर्षोष्णुतुषारयुक्तः संपन्न शस्यस्त्विति कालसम्पत्।।36।।
3. समं तुरंग विषमं च नागेस्तथा जलागढ़यं स महीधरं च।
   नागावृतं पक्षबलानुपेतैर्यथाबलञ्च प्रसमीक्ष्य मिश्रम्।।39।।
4. मरूप्रगाढं पतित्त स्म तोये ग्रीष्मेऽप्यनूपोदककक्षदुर्गम्।
   मिश्रञ्च संवीक्ष्ययथसुखञ्च मच्छेन्नरेन्द्रो विजयाय देशम्।। 40।।
   कामन्दकीयनीतिसार सर्ग –15, श्लोक – 49, 36, 40
5. अल्पवृक्षोपला छिद्रा लतिका छिदरा स्थिरा।
   निःशर्करा च निष्पङ्का सापसारा च वाजिभूः ।।10।।
   मर्दनीय तरूच्छद्यव्रततिः पंकवर्जिता।
   उर्वरा गम्यशैला च विषमा गजमेदिनी।।14।।
   कामन्दकीयनीतिसार सर्ग– 19, श्लोक – 10 एवं 14

आचार्य कामन्दक अश्व सेना के विशेष कार्यों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि "वन दिशा और किसी अज्ञात मार्ग की खोज करना, माल ढोने की वहिंग सेना को ले जाने का कार्य करना, सेना की रक्षा करना, धान्य की रक्षा करना, अपसरण में पीछे गमन करना तथा कार्यो का शीघ्र सम्पादन करना, घबराये हुए की (अपाहिज व गरीब की) रक्षा करना, शत्रु के समक्ष गमन करना वक्रगति से प्रहार करना ये सभी कार्य अश्व सेना के हैं।[1] आचार्य कामन्दक का मत है कि युद्ध भूमि में स्वामी, उसके पुत्र –पौत्र एवं कोष को मध्य भाग में रखकर इसके दोनों दाहिने बाँये भाग में घोड़े और घोड़ों के दाहिने बाँये भाग में रथ, रथ के पार्श्व भाग में हाथी और हाथियों के पार्श्व भाग में अटवी (वनवासियों) की सेना चले।[2] स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय आचार्य तथा मनीषी अश्वसेना के महत्व को समझते थे और वे अश्वसेना को संग्रामिक बल के रूप में प्रयोग करते थे। यद्यपि ऋग्वेद में अश्वसेना के संग्रामिक प्रयोग का वर्णन नहीं है तथापि यह सर्वविदित है कि ऋग्वेदकाल में अश्वों को रथों में जोता जाता था अैर अश्वमेघ यज्ञ में अश्व का अत्यधिक महत्व था, जिसके संबंध में ऋग्वेद में असंख्य मंत्र हैं। ऋग्वेद में अश्व के वीरतापूर्ण कर्म की व्याख्या की गई है और अश्व–अश्व को इन्द्र का प्रतीक मानकर उसकी पूजा की जाती थी।[3] ऋग्वेद में उल्लेख है कि सभी वीर पुरुष अश्व को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।[4] और अश्व अश्व की सभी वस्तुओं , मुंह की रास, घास आदि को देवभक्ति से पूर्ण होने की कामना की गई है।[5] यह भी कामना की गई है कि सोम जैसे अश्व को रणभूमि में भेजते हैं वैसे ही तुम (यज्ञ का उपकार) इन्द्र की ओर गमन करो।[6] इससे

---

1. वनदिङ्. मार्गप्रचयो वीवधासाररक्षणम्।
   अनुयानापसरणे शीघ्र कार्योपपादनम्।।4।।
   दीनानुसरणञ्चैव कोटीनां जघनस्य च।
   इत्यश्वकर्म पत्तेश्च सर्वदा शस्त्रधारणम्।।5।।
2. सुखाख्यो वलयश्चैव दण्डभेदाः सुदुर्जयाः।
   अतिक्रान्तः प्रतिकान्तः कक्षाभ्याज्चकपक्षतः।।45।।
   अतिक्रान्तश्च पक्षभ्यां त्रयोऽन्यस्तु विपर्ययः।
   स्थूणापक्षो धनुः पक्षो द्विस्थूणो दण्ड ऊर्ध्वगः।।46।।
   कामन्दकीयनीतिसार सर्ग 19, श्लोक :4, 5, एवं 45, 46
3. ऋगवेद : 1/16/1,,2
4. ऋगवेद : 2/162/12
5. ऋगवेद : 2/162/8
6. ऋगवेद : 9/86/3

यह सिद्ध होता है कि यज्ञ तथा संग्राम की दृष्टि से अश्व को अत्यधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था और इस आधार पर चक्रवर्ती पद प्राप्त करने के लिए राजा द्वारा किए गए यज्ञ को अश्वमेघ की संज्ञा दी गई थी। महाभारत काल में सांग्रामिक घोड़ों को सोने तथा लोहे के कवच से आच्छादित किया जाता था। अश्वारोही सैनिक गोह के चमड़े से बने अंगुलित्राण, लोहे के बने शिरस्त्राण और सोने का कवच धारण करता था। सधनुष अश्वरोही कंधे पर तूणीर बांधे, कमर में तलवार लटकाए अश्वयुद्ध के लिए हाथ में भाला लेकर जाते थे। उत्तर महाभारत काल में कवचित तथा अकवचित अश्वारोही सैनिक इसी प्रकार के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करते थे। महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लेख है कि युद्धकला विशेषज्ञों का मत है कि कीचड़, जल, तथा विषम भूमि अश्वारोही युद्ध के लिए उचित नहीं है। महाभारत में अश्वारोही सेना का काम वर्जित भूमि, सैन्य शिविर तथा निर्वासित जंगल आदि में पहरा देना, शत्रु की संचार व्यवस्था को त्रस्त करना, अपनी संचार व्यवस्था को सुचारू रखना, सेना के पार्श्वों की रक्षा करना, शत्रुबल पर प्रारंभिक आक्रमण करना, शत्रु दल को छिन्न भिन्न करना, शत्रु को घेरे में डालना, भागते हुए शत्रु का विनाश करना शत्रु के कोष आदि को तेजी से छीनना तथा शत्रु के राजकुमारों को गायब करना था।[1] रामायण में अश्वयुद्ध का अनेकानेक स्थानों में वर्णन है। उस काल में भी अश्वों का सांग्रामिक महत्व था और कम्बोज, बाहलीक और सिंधु के अश्वों को श्रेष्ठ माना जाता था।[2] मनु का मत है कि अश्वसेना का प्रयोग समतल भूमि के युद्धों में करना चाहिए।

आचार्य कौटिल्य ने अश्वसेना को महत्वपूर्ण सेनांग माना है और अश्वसेना के प्रशिक्षण महत्व एवं कार्यों की विस्तृत व्याख्या की है।[3] आचार्य कौटिल्य ने अश्वाध्यक्ष को घोड़ों की आयु, वर्ण, चिन्ह, वर्ग व कुल के अनुसार सूची बनाने का आदेश दिया हैं। कौटिल्य ने आदेश दिया है कि अश्वसेना को वल्गन, निचेगंत, लांघन, एवं नारोष्ट्र का नियमित प्रशिक्षण प्रदान किया जाय जिससे कि वह युद्ध में अभिसृत परिसृत, अतिसृत, अपसृत, उन्मध्यावधान, वल्यू, गोमूत्रिका मंडल, प्रकीर्णिका, अनुवंश, भग्नरक्षा, भग्नानु पाल आदि क्रियायें कर सकें। कौटिल्य ने घोड़ों के लिए आहार की मात्रा

1. प्राचीन भारत की सांग्रामिकता – रामदीन पाण्डेय, पृष्ठ 125
2. बाल काण्ड – 7
3. अर्थशास्त्र : 10/4

एवं वैद्यों का सुझाव भी दिया है।[1] लगभग 200 वर्ष पूर्व फेडिक महान ने कहा था कि "संग्राम में विजय प्राप्त करना अश्वारोही सेना की श्रेष्ठता पर निर्भर करता हैं विदेशी लेखकों का मत है कि पोरस की सेना में चार हजार अश्वरोही थे।[2] इसी संदर्भ में यह भी लिखा है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीय अश्वों को उनकी सांग्रामिक उपयोगिता के कारण सेनांग के रूप में महत्वपूर्ण स्थान देते थे।[3] डॉ0 पी0सी0 चक्रवर्ती का मत है कि अश्वसेना सेना की गति का प्रतिनिधित्व करती है, जिस राजा के पास सबल अश्वसेना होती है उसके लिए युद्ध एक खेल मात्र होता है। भाग्य उसका साथ देता है और दूरस्थ शत्रु भी सरलता से उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। अश्वसेना कीर्ति प्राप्त करने की कुंजी है। जिस राजा के पास अश्वबल प्रबल होता है उसकी सीमा पर शत्रु झाँकता भी नहीं है।[4]

आचार्य शुक्र ने चतुरंग बल में अश्व सेना को पर्याप्त महत्व प्रदान किया है। उन्होंने अश्वों के विभिन्न प्रकारों, चिन्हों व लक्षणों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। अश्व के शिक्षक की योग्यताओं तथा उससे संबंधित निर्देशों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अश्वों के विभिन्न भोजन और उनके प्रभाव के साथ ही अश्वों की विभिन्न गतियों का विवरण प्रस्तुत किया है।[5] उन्होंने अश्वसेना का सर्वोच्च अधिकारी अश्वाध्यक्ष बताया हैं वह अश्वों की नस्ल, रंग, गति, आयु, भोजन व चिकित्सा के साथ उनके बल, युद्ध क्षमता व माल वाहन क्षमता का विशेषज्ञ होता है। वह अश्वों को प्रशिक्षित करने में और उन्हें निर्देश देने की कला में भी कुशल होता है। अश्व अध्यक्ष को व्यूह कला का ज्ञाता होने के साथ ही शूर व बुद्धिमान भी होना चाहिए। शुक्र ने अश्व सेना के अन्तर्गत अश्व सवार तथा अश्व सेवक के पद भी स्वीकारे हैं और उनके कार्यों पर प्रकाश डाला है।[6] नीतिवाक्यमृतम् के अनुसार अश्व सेना को अतितीव्र गतिवाला मानकर उसे दूरस्थ शत्रुगणों के समीप जाकर आक्रमण करने का उत्तम साधन बताया है।[7]

---

1. अर्थ : 2/30
2. इनवेज ऑफ इण्डिया बाई एलेग्जेण्डर –मकृण्डल, पृष्ठ 102
3. एनसियन्ट इण्डिया – मकृण्डल, पृष्ठ –12
4. डॉ0 पी.सी. चक्रवर्ती–द आर्ट ऑफ वार इन एनसियन्ट इण्डिया, पृष्ठ 36
5. शुक्र 0 4 (7) पृ0 86–298 व 328 –331
6. शुक्र0 2, पृष्ठ 260–275
7. नीतिवाक्यामृतम् पृष्ठ –210 पर उद्धत शुक्र वचन

आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने योग यात्रा को उद्घृत कर अश्व के गुणों व लक्षणों की विवेचना की है। उनका मत है कि दीघ्र ग्रीवा और नेत्रकोश वाला, विस्तीर्ण कटि और हृदय वाला, ताम्रवर्ण के तालु ओंठ व जीभ वाला, छोटे, कान, ओंठ व पूँछ वाला, सूक्ष्म चर्म, सिर के बाल पूँछ वाला, सुन्दर शफ गति और मुख वाला, गोल जंघा जानु और उरू वाला, बराबर और सफेद दाँत वाला तथा दर्शनीय आकार व शरीर की शोभा वाला, सर्वांग शुद्ध घोड़ा, सदैव राजा –राजा के शत्रु के नाश के लिए होत है।[1]

यदि घोड़ों के आसन स्थान के पश्चिम या वाम भाग में ज्वलन पैदा हो तो शुभ नहीं होता, इससे विपरीत पूर्व या पश्चिम भाग में ज्वलन पैदा हो तो शुभ होता हैं उत्पातवश घोड़े के सब अंगों में ज्वलन पैदा हो तो उसे सर्वांग ज्वलन कहते हैं। यह सर्वांग ज्वलन अवृद्धिकारी होती है जिस घोड़े के शरीर से दो वर्ष तक अग्निकण या धुआं निकले तो वह भी अवृद्धिकारी होता हैं[2]

यदि घोड़े का लिंग प्रदीप्त हो तो पराजय, मुँह और सिर प्रदीप्त हो तो जय होती है।[3] घोड़े का कन्धा, आसन, ग्रीवा के पार्श्व भाग प्रदीप्त हो तो जय, पैर प्रदीप्त हो तो स्वामी का वध ललाट, छाती, आँख और भुजा घूमयुक्त हो तो पराजय होती है।[4] बिना कारण घास व पानी से विरक्ति करना, पसीना आना, काँपना, खून मुँह से निकलना, रात्रि में किसी से द्वेष करते हुए जागना, दिन में नींद, आलस और चिन्ता का आना, नीचे मुख करना, ऊपर देखना ये सभी घोड़े की चेष्टाये अशुभ हैं।[5]

मीमांसाकार ने वराहमिहिर के मत को उद्घृत करते हुए घोड़े के शब्द का फल निम्न प्रकार कहा है–

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ 86
2. नीतिमयूख पृष्ठ 86
3. नीतिमयूख पृष्ठ 86
4. नीतिमयूख पृष्ठ 86–87
5. नीतिमयूख पृष्ठ 87

घोड़े को कोंच पक्षी की तरह शब्द करना, तथा गर्दन को स्थिर और ऊपर मुख करके शब्द करना, उच्च स्वर से बार–बार मधुर शब्द करना या ग्रास से मुख बन्द रहने पर भी आनन्द पूर्वक शब्द करना आदि शत्रु के वध के लिए होता है।[1]

शब्द करते हुए घोड़े के पास किसी शुभ द्रव्य से पूर्ण पात्र दही, ब्राह्मण देवता, सुगन्ध, द्रव्य, फल फूल, सोना, रजत, मणि, मोती आदि या अन्य शुभ द्रत्य आ जाये तो जय होती है।[2]

वाये पैर से पृथ्वी को खोदने वाले स्वामी के विदेश गामन के कारण होते हैं तथा सन्ध्यायों (सूर्योदय, मध्यान्ह, सूर्यास्त और अर्धरात्रि) में दीप्त शिखा को देखते हुए शब्द करें तो स्वामी के बंध न व पराजय के कारण होते हैं।[3]

राजा के चढ़ जाने पर जो घोड़ा विनय से युक्त होकर जिस दिशा में राजा को जाने की इच्छा हो उसी दिशा में चले तथा अन्य घोड़े के शब्द करने पर या मुँह से अपने दक्षिण पार्श्व को स्पर्श करे तो शीघ्र ही स्वामी की लक्ष्मी की वृद्धि करता है।[4]

जो घोड़ा बार–बार पेशाब या पाखाना करे, मारने पर भी अमीष्ट दिशा में न चले, बिना कारण डरे और जिसके अश्वपूर्ण नेत्र हो जाये तो वह अपने स्वामी का मंगल (कल्याण) नहीं करता है।[5]

छावनी –स्कन्धावार –स्थल (युद्ध स्थल)

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने अपने पूर्ववर्ती व समकालीन राजनीतिक आचार्यों की भाँति ही सेना की छावनी को स्कन्धवार के नाम से संबोधित किया है।

1. नीतिमयूख पृष्ठ 87
2. नीतिमयूख पृष्ठ 87
3. नीतिमयूख पृष्ठ 87
4. नीतिमयूख पृष्ठ 87
5. नीतिमयूख पृष्ठ 87

स्कन्धवार कहां और किस प्रकार का होना चाहिए। इसके विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिसार को उद्घृत करते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं कि साधुजन सम्मत, छावनी के स्थान के विषय में जानने वाले शत्रु के पुर के समीप की भूमि में अपनी छावनी डालें। तथा भूमि और देश की सामर्थ्य से स्थान की कल्पना करें। गुप्त, स्वच्छ, पुर के आकार वाला, महाद्वीपों से विराजमान , उसके मध्य में मन को हरने वाले पुरतैनी महामंत्रियों से संपन्न और भीतरी कोषाग्रह से संयुक्त राजमंदिर बनवावें। पुस्तैनी नौकरी से व्याप्त सुहृदों की अधिकाई से शोभित 12 प्रकार के अटवियों (अलग रहने वालों) को संग्रह करके राजमहल के समीप आदर के साथ इनको प्रवेश करावें और उनके समीप में अगणित क्रूर, लुब्धक, दुष्कर्मों, व्याघ्रों की परीक्षा करके कि यह सत्यवादी है, अच्छी तरह वृति देकर मण्डल में स्थित करें। अपने पुरुषों से रक्षित हुए, मान पाए हुए हाथी और मन के समान वेग वाले घोड़े के मंदिर के समीप निवास करें। छावनी में हर समय युद्ध के अयोग्य महागजराज कसा हुआ स्थित रहे, तथा एक वेगवान घोड़ा, प्रतिक्षण कसा कसाया खड़ा रहे (यह भी बारी बारी से लगाए जाएं) तीन घंटे के पीछे दूसरा घोड़ा इसी प्रकार से आते जाते रहें।[1]

छावनी में शत्रु के प्रवेश से सावधानी-

छावनी स्कन्धावार में जिस मार्ग से शत्रु के आने की संभावना हो, उस मार्ग की सावधानियों का उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि खाई से बाहर अपनी सेना के संचार का बड़ा मार्ग छोड़कर शत्रु सेना के नाश करने से निमित्त शेष वहाँ की सब भूमि को नष्ट कर देना चाहिए, अर्थात भूमि को ऊँची-नीची खाई खन्दक व काँटों में संपन्न कर दें। कहीं उसमें काँटों के वृक्ष लगा दें, कहीं उसमें लोहे के गोखरू विछवा दें, और उसको चारों ओर से किसी वस्तु से ढँककर भूषित करें, जिससे इस भेष को कोई न जाने निगूढ़ (क्षुप) (बेलबूटा) पाषाण (पत्थर) ठूंठ तलैया वम्वई आदि से रहित भी छावनी होनी चाहिए।

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ 95
2. नीतिमयूख पृष्ठ 96

स्कन्धवार के लिए उचित भूमि (देश) के प्रकार-

आचार्य नीलकण्ठ ने उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से स्कन्धावार के तीन भेद किए हैं। जिनका कि उल्लेख इस प्रकार किया है।

1. उत्तम -

जिस देश में यथायोग्य सेना के कवायद की भूमि होती हैं, और शत्रु के यहाँ वह भूमि न हो, वहीं देश (भूमि) स्कन्धवार के लिए उत्तम है।[1]

2. मध्यम -

जहाँ अपनी सेना की ओर शत्रु की सेना की भी कवायद की भूमि होती हैं-वह शास्त्र के ज्ञाताओं ने स्कन्धावार के लिए मध्यम देश (भूमि) कहा है।[2]

3. अधम -

जहां शत्रु की सेना की कवायद की भूमि है, और अपनी नहीं है वह देश अधम है। 3

उत्तम स्कन्धावार के लक्षण -

दिव्य अन्तरिक्ष के उत्पात, और राज्यों के उत्पातों से अदूषित, सहज–सहज चलती हुई पवन मंगल की सूचना देती रहे, सेना हष्ट पुष्ट सुगन्धि से व्याप्त निर्मल आदि के लक्षणों वाली छावनी विजय देने वाली और श्रेष्ठ कहीं हैं प्रशंसित छावनी से शत्रु का भंग होता हैं और अप्रशंसित तथा निकृष्ट से अपनी हार होती है। 4 इसके साथ ही नीलकण्ठ भट्ट ने हार और जीत के विषय में व्याख्या करते हुए कहा है कि शकुन होने पर विजय प्राप्त होती है, और अपशकुन प्राप्त होने पर पराजय प्राप्त होती है। इसी कारण से शकुन और अपशकुन विचार नामक प्रकरण का नीतिमयूख में इन्होंने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।[5]

कूटयुद्ध-

प्रायः सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने कुटयुद्ध का उल्लेख अपने अपने राजनीतिक ग्रंथों में किया है सामान्यतया जिस युद्ध में युद्ध के निर्धारित नियमों का उल्लंघन किया जाता है कूटयुद्ध कहलाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कूटयुद्ध के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि छल कपट और राजनैतिक दावपेंच के आधार पर जो युद्ध किया जाता है वह कूटयुद्ध या मंत्र युद्ध कहलाता है। इस प्रकार से परास्त किया हुआ शत्रु चिरकाल तक प्रभावित रहता है। नीति के द्वारा परास्त किए जाने के पश्चात वह पुनः शत्रुता करने का साहस नहीं करता।[6]

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ 96 2. नीतिमयूख पृष्ठ 96 3. नीतिमयूख पृष्ठ 96
4. नीतिमयूख पृष्ठ 96 5. नीतिमयूख पृष्ठ 96
6. आचार्य हेमचन्द्र के राजनैतिक विचार पृष्ठ 370

शुक्राचार्य ने कहा है कि मंत्र युद्ध (श्रेष्ठ) होता हैं[1]

आचार्य कौटिल्य भी छलकपट द्वारा भय पैदाकर दुर्ग को नष्ट करना, लूटमार करना, अग्निदाह करना, प्रमाद और व्यसनग्रस्त शत्रु पर आक्रमण करना, एक स्थान पर युद्ध को रोककर दूसरे स्थान पर छल कपट से मारकाट मचाना यह कूट युद्ध के लक्षण बताए हैं।[2]

कामन्दक ने कूट युद्ध के विषय में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है कि कूट युद्ध द्वारा निश्चय बध कर देना चाहिए। इस प्रकार शत्रु का बध कर देने से अधर्म अथवा नरक की प्राप्ति होती है जैसे कि विश्वासपूर्वक सोई हुई पाण्डवों की सेना को महाभारत में शस्त्र लेकर द्रोण पुत्र अस्वत्थामा ने मार डाला था।[3]

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भी अन्य राजशास्त्र प्रणेताओं की तरह कूट युद्ध के प्रबल समर्थक जान पड़ते हैं। उन्होंने नीतिसार को उद्घृत कर कूटयुद्ध का उल्लेख करते हुए कहा है कि कूटयुद्ध का नाम से अभिप्राय विषाक्त शास्त्र आदि से घात प्रहार संसार में प्रसिद्ध हैं।[4]

कूटयुद्ध का अवलम्बन किन परिस्थितियों में करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ ने कहा है कि दीर्घमार्ग से चलने से थकी हुई क्षुधा, क्षुधा, प्यास, और सर्दी से व्याकुल व्याधि, दुर्भिक्ष तथा मारक रोग से पीड़ित चोरों के उपद्रव से पीड़ित, घोर अग्नि के भय से व्याकुल वर्षा और पवन से आहत कीचड़ , धूल, जल की अधिकाई से व्याप्त, मार्ग में कीचड़ आदि की अधिकाई से व्याकुल, छिन्न भिन्न तथा एकत्रित हुई सोती हुई तथा भोजन करने में व्यग्रचित्त, अभूनिष्ठ पर्वतादि पर चढ़ाते हुए इत्यादि व्यसनों से व्याकुल अपनी सेना की भली प्रकार से रक्षा करता हुआ, शत्रु की सेना का संहार करें। जब देश काल अपने अनुकूल हो और शत्रु की प्रजा उससे विपरीत हो जाए, तब बलवान को प्रकाश युद्ध करना चाहिए, इसके विपरीत परिस्थितियों में कूट युद्ध का आश्रय लेना चाहिए।[5] यदि आगे विषम देश हो तो बड़े वेग से पीछे से ताड़न करें और मेरी जीत हो गई इस प्रकार विश्वास पाए शत्रु को आश्रयहीन कर नष्ट करें, शत्रु सेना को लोभित करके स्वयं सावधान होकर शत्रु सेना को नष्ट करें। घेरने के भय से जिसने रात्रि में जागरण किया है और इसी कारण श्रम प्राप्त हुआ है। निद्रा के लिए व्याकुल सैनिकों को यदि वह

---

1. शुक्रनीति : अध्याय 4, पृष्ठ 179
2. कौटिलीय अर्थशास्त्र : अधि0 7 अध्याय 6, श्लोक 47, पृष्ठ 427
3. कामन्दक नीतिः सर्ग 18, श्लोक 69
4. नीतिमयूख पृष्ठ 98
5. नीतिमयूख पृष्ठ 98

दिन में ही सो रहे हों तो उनका हनन करना चाहिए। तथा प्रातः काल तक जो निद्रा का त्याग न कर सकें, ऐसे सैनिकों को भी मध्यान्ह तक मार देना चाहिए। जो रात को सुख से शयन कर रहे हों उनके सैनिक (सोते हुओं पर प्रहार की रीति) से प्रहार करने वाला, इस प्रकार कूट युद्ध द्वारा किंचित श्रम से ही शत्रु का बध करें। ऐसा नीति शास्त्र के ज्ञाता नीलकण्ठ ने कहा है।[1] भली प्रवृत्ति वाला, उद्योग शील राजा इस चढ़ाई के प्रचार को अवलम्बन करके शत्रु को मारे और दूतों से भली प्रकार उसकी गति जानकर सावधान होकर शत्रु से शंकित रहे। इस प्रकार कूटयुद्ध से शत्रु का निश्चित वध करें। इस प्रकार किए जाने वाले शत्रु नाश से किसी प्रकार का अधर्म व नरक नहीं होता, देखो विश्वासपूव्रक सोई हुई पाण्डवों की सेना में महाभारत में शस्त्र लेकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने मार डाला था।[2]

धर्मयुद्ध -

भारत के प्राचीन राजशास्त्र प्रणेता, मनु, भीष्म, कौटिल्य तथा शुक्र आदि ने धर्मयुद्ध के विषय में विवेचन किया है धर्मयुद्ध निर्धारित नियमों के अनुसार होता है। धर्मयुद्ध के नियम मानवीय दया आदि गुणों से युक्त होते हैं। धर्मयुद्ध का एक मात्र उद्देश्य शत्रु सेना का संहार करना होता, बल्कि उससे हार स्वीकार कराना, और अधिक से अधिक उसे करद बनाना मात्र होता है। इसलिए इसमें विषदग्ध (जहर बुझे) वाणों का प्रयोग निषिद्ध है। जिनके निकालने में घाव बढ़ जाता है।

मनु युद्ध में छल कपट एवं धूर्तता का आश्रय लेकर शत्रु का क्रूरता एवं नृशंसता पूर्वक वध उचित नहीं समझते। वीरता का प्रदर्शन करते हुए नियमानुसार शत्रु को पराजित करना ही मनु ध र्मयुद्ध मानते हैं।[3]

भीष्म ने धर्मयुद्ध के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि निर्धारित विधि के अनुसार निर्दिष्ट स्थान एवं समय पर युद्ध करना, प्राचीन भारत में धर्मयुद्ध माना गया है।[4]

देशकाल और विक्रम को निश्चय कर और उनको प्रकाशित कर जो युद्ध किया जाय उसको कौटिल्य ने धर्मयुद्ध (प्रकाश युद्ध) के नाम से संबोधित किया है।[5]

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ 96
2. नीतिमयूख पृष्ठ 96
3. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ0 श्याम लाल पाण्डे, पृष्ठ 62
4. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ0 श्याम लाल पाण्डे, पृष्ठ 98
5. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ0 श्याम लाल पाण्डे, पृष्ठ 147

धर्मशास्त्र प्रणेताओं द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार जो युद्ध किया जाता है आचार्य शुक्र उसे धर्मयुद्ध मानते हैं।[1]

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने भी धर्मयुद्ध के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि प्रजा का पालन करते हुए राजा समान, अधिक या कम (बल वाले शत्रुओं को बुलाने, युद्ध के लिए ललकारने) पर (क्षत्रिय युद्ध से विमुख न होंवे) युद्धों में परस्पर व्यवहार करने की इच्छा रखते हुए अपार शक्ति से युद्ध करते हुए राजा विमुख न होकर (मरने से) स्वर्ग को जाते हैं।[2] धर्मयुद्ध का पुनः उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट कहते हैं कि शत्रु पक्ष से आपस में युद्ध करते समय राजा शत्रु को नष्ट करने के लिए अपनी पूर्ण शक्ति से यदि युद्ध करता है, तो वह इस संसार से परांगमुख (ऊपर की ओर होकर) के स्वर्ग को प्राप्त करता है।[3]

दुर्ग –

दुर्गों के निर्माण और उसकी सुरक्षा के विषय में विभिन्न राजशास्त्र प्रणेताओं ने अपने अपने विचार दिए हैं। किन्तु अन्ततः उन सभी के विचारों में समानता दिखाई देती है। कामन्दक ने संघात्मक राज्य की एक प्रकृति व उसका एक अंग दुर्ग माना है। भारत में दुर्गों के निर्माण की प्रथा प्राचीन से थी इस संबंध में जी0एन0 पन्त ने लिखा है कि सर्वप्रथम मनुष्य ने कांटेदार झाड़ियों को साधारण दुर्ग के रूप में अपनाया होगा, तद्परांत उसके साथ साथ मिट्टी की लघु दीवार बनाई होगी, और फिर सभ्यता के विकास के साथ –साथ दीवार बनाई गई होगी। तद्परांत कुछ फासले पर दो समान्तर दीवारें बनाकर बीच की खाई को मिट्टी से भर दिया होगा, परन्तु बाहरी दीवार को पिछली दीवार से कुछ ऊँचा रखा गया होग। जिससे कि शत्रु के प्रहारक प्रक्षेपास्त्रों और तीरों से बचाव को सके। कालान्तर में कुछ कुछ दूरी पर बुर्जों का निर्माण किया जाने लगा।

---

1. शुक्रनीति अध्याय –4 श्लोक 1170
2. नीतिमयूख पृष्ठ 100
3. नीतिमयूख पृष्ठ 100
4. Studies in Indian Weapons and Warfare - G.N. Pant page .211

प्राचीन काल में राज्य की बाहरी तथा भीतरी रक्षा के लिए सेना और गुप्तचरों के अतिरिक्त दुर्ग बहुत उपयोगी होते थे। स्थान–स्थान पर नगरों का स्वरूप ही दुर्गात्मक होता था। इसके संबंध में कौटिल्य लिखते हैं कि राजा चारों दिशाओं में जनपद के सीमा स्थानों में, युद्ध के लिए उपयोगी स्वाभाविक विकट स्थानों को ही दुर्ग के रूप में बनवा लेवें। दुर्ग मुख्यतः चार तरह के होते हैं और इनमें से प्रत्येक के दो दो भेद हैं। नदियों से घिरा हुआ, बीच में टापू के समान अथवा बड़े बड़े गहरे तालाबों से घिरा हुआ, मध्य का स्थान प्रदेश दुर्ग कहलाता है। बड़े बड़े पत्थरों से घिरा हुआ अथवा गुफाओं के रूप में बना हुआ दुर्ग "धन्वन" दुर्ग कहलाता है। चारों ओर दलदल से घिरा अथवा काँटेदार झाड़ियों से घिरा हुआ दुर्ग "वन दुर्ग" कहा जाता है।[1] दुर्ग भी राज्य के सात अंगों में से एक प्रमुख अंग है राज्य को अपने दुर्ग का आश्रय लेकर राज्य के शासन का संचालन करना चाहिए। राजा के लिए दुर्ग परम उपयोगी है। कामन्दक के मतानुसार दुर्ग हीन राजा पवन से प्रेरित मेघों के समान छिन्न भिन्न हो जाता है। अतः राजा को अपने राज्य में दृढ़ दुर्ग का निर्माण करना चाहिए।[2]

नीतिमयूख के प्रणेता नीलकण्ठ भट्ट ने भी अन्य राजशास्त्र विचारकों की तरह दुर्ग को सप्तात्मक राज्य की एक प्रकृति अथवा उसका एक अंग माना है उन्होंने दुर्ग का उल्लेख कामन्दक तथा कौटिल्य के समान ही किया है।[3]

दुर्ग के संबंध में चण्डेवर का मत है कि राजा के स्वजन, सोने चांदी, मणि, मुक्ता, प्रवाल, बहुमूल्य रत्न क्षोमवस्त्र के आधार और कोष तथा स्वामी की आत्मरक्षा का स्थान दुर्ग कहलाता है।[4]

---

1. भगवान दास केला : कौटिल्य की शासन व्यवस्था पृष्ठ 35
2. कामन्दकीय नीतसार सर्ग – 4 श्लोक 57 –58
3. नीलकण्ठ भट्ट : नीतिमयूख पृष्ठ 42
4. राजनीति रत्नाकर : सम्यनिरूपण तरंग

अच्छे दुर्ग के लक्षण –

कामन्दक ने अच्छे दुर्ग के निम्न लक्षण बताए हैं– विशाल सीमा वाला, अत्यन्त गहरी खाई और ऊँची प्राचीर द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ, राजधानी से सटा हुआ पर्वत, नदी तथा घने जंगलों के समीप धनधान्य और जल से सम्पन्न, आपत्तिकाल, सहन करने में समर्थ, विशाल दुर्ग होना चाहिए।[1]

कामन्दक ने एक स्थान पर लिखा है कि जल, अन्न, फौजी सामान और यंत्रों से सम्पन्न और वीर योद्धाओं से व्याप्त प्रधानमंत्री और आचार्य से सुरक्षित दुर्ग अच्छा कहलाता है।[2]

अच्दे दुर्ग के लक्षण का उल्लेख करते हुए आचार्य कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है।

"तृष्णी युद्ध करने, अपने जनों की रक्षा करने, मित्र व अमित्र का परिग्रहण करने और सामन्त व वनवासियों द्वारा खड़े किए गए उपद्रवों के विरोध का स्थान दुर्ग कहलाता है। दुर्ग में स्थित राजा अपने और शत्रु दोनों पक्षों से पूजित होता है। भृत्यजनों का भरण पोषण, वाहन, दान, भूषण, क्रय, पदार्थ, स्थिरता, शत्रु को ताप ये सभी दुर्ग के आश्रय से सिद्ध होते हैं।[3]

महाभारत में दुर्गों की विशेषता का सारगर्भित वर्णन है, भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा कि राजा को चाहिए कि वह सभी 6 प्रकार के दुर्गों में प्रत्येक प्रकार की सामग्री पर्याप्त मात्रा में एकत्र करें अर्थात दुर्ग में रसद तथा शस्त्रोस्त्रों का असीम भण्डार हो और उसकी दीवार अमेद्य होने के साथ जलयुक्त गहरी व चौड़ी खाई से सुरक्षित हो जिसके आगे हाथी तथा अन्य पशु पर्याप्त मात्रा में और दुर्ग के आसपास निष्ठावान कुशल कारीगर तथा वीर पुरुष निवास करते हों इसी क्रम में भीष्म ने कहा कि राजा को चाहिए कि युद्धोपयोगी साज सामान को अधिकाधिक मात्रा में दुर्ग में केन्द्रित करे यही राजा का कर्तव्य है।[4]

---

1. कामन्दकीय नीतिसार सर्ग – 4 श्लोक –57
2. कामन्दकीय नीतसार सर्ग :4 श्लोक 60
3. कामन्दकीय नीतिसार सर्ग 13–श्लोक 29, 30, 31
4. शान्तिपर्व: 12/87

रूखी भूमि का अलग से वर्णन करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जहां पर पानी की मात्रा कम होती है अन्न उत्पादन नहीं कर सकती। अतः राजा को दुर्ग के लए ऐसी भूमि का चयन करना चाहिए जहां जल की मात्रा चौगुनी या पांच गनी हो वहीं पर अच्छा अन्न उत्पन्न उपजाता है।[1]

दुर्ग के भेद-

दुर्ग के भेदों के विषय में विचारकों में एकरूपता नहीं है। आचार्य कामन्दक के अनुसार –दुर्ग शास्त्र के ज्ञाताओं ने जल दुर्ग, पर्वत दुर्ग, वृक्ष दुर्ग, ऊसर भूमि दुर्ग, मरूस्थल दुर्ग की प्रशंसा की हे।[2]

ऋग्वेद व सामवेद में भी दुर्गों का वर्णन है। रामायण में रावण के चार प्रकार के दुर्गों का वर्णन है। –नदी दुर्ग, गिरि दुर्ग, वन दुर्ग, कृत्रिम दुर्ग ।[3]

महाभारत के शान्तिपर्व में 6 प्रकार के दुर्गों का वर्णन है। यथा धान्व दुर्ग, मही दुर्ग, गिरी दुर्ग, मनुष्य दुर्ग, कृत्रिम दुर्ग एवं वन दुर्ग।[4]

मनुस्मृति में 6 प्रकार के दुर्गों का वर्णन है यथा– धन्व दुर्ग, मही दुर्ग, जल दुर्ग, वाक्ष दुर्ग, नृदुर्ग, गिरी दुर्ग ।[5]

शुक्र ने दुर्गों के नौ भेद बताए हैं। यथा – ऐरिण, पारिख पारिध, वन, धन्व, जल, गिरि, सैन्य एवं सहाय दुर्ग।[6]

कौटिल्य ने दुर्गों के चार प्रकार बताए हैं। यथा औदक, पार्वत, धन्वन एवं वन दुर्ग। शुक्र के अनुरूप ही मानसोल्लास में भी नौ प्रकार के दुर्गों का वण्रन है।[7]

विभिन्न प्राचीन भारतीय ग्रंथों के उपर्युक्त वर्णन को समयोजित करने से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में 15 श्रेणी के दुर्ग थे यथा 1– नदी दुर्ग

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ 77
2. कामन्दकीय नीतिसार सर्ग – 4 श्लोक –59
3. युद्धकाण्ड : 3/11
4. शान्तिपर्व 12/87, 56/35, एवं 86/4
5. मनुस्मृति 7/70
6. शुक्रनीति– 4/850 से 854
7. मानसोल्लास : 2/5

2.	गिरी दुर्ग	3.	कृत्रिम दुर्ग
4.	धान्व दुर्ग	5.	मही दुर्ग
6.	मनुष्य दुर्ग	7.	वाक्ष दुर्ग
8.	नृ दुर्ग	9.	ऐरिण दुर्ग
.0.	पारिख दुर्ग	11.	पारिध दुर्ग
12.	सैन्य दुर्ग	13.	सहाय दुर्ग
14.	औदक दुर्ग	15.	वन दुर्ग

प्राचीन आर्या सामरिक महत्व के आधार पर राज्य में उपर्युक्त प्रकार के अनेकानेक दुर्गो के निर्माण पर बल देते थे परन्तु सर्वश्रेष्ठ दुर्ग के सबंध में उनकी पृथक – पृथक मान्यतायें थी मनु गिरी दुर्ग को सर्वश्रेष्ठ मानते है। जबकि शान्ति पर्व में नृदुर्ग को सर्वश्रेष्ठ दुर्ग माना गयाहै।[1] रामायण में भी गिरी दुर्ग को सर्वश्रेष्ठ माना गया है और लंका का वर्णन एक प्रकार के गिरी दुर्ग के रूप में किया गया है।[2]

नीलकंठ भट्ट मनु को दृष्टानित कर दुर्ग के प्रकारों की व्याख्या करते हुए कहते है – राजा धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग अथवा गिरी दुर्ग का आश्रय कर राजधानी में निवास करें । इस प्रकार नीलकंठ भट्ट ने दुर्ग के छैः प्रकार बताये है।[3]

1. धन्व दुर्ग – धन्वदुर्ग कम से कम बीस कोस तक पानी, हरियाली एवं वृक्ष घास आदि से रहित रेतीली भूमि युक्त स्थान है।

2. मही दुर्ग – ईट, पत्थर आदि ऊबड़ खाबड़ अर्थात बहुत ऊँचा नीचा होने के कारण विषम, युद्ध के लिये अयोग्य तथा गुप्त गवाक्ष अर्थात छोटे – छोटे छिद्र वाले जंगले, वाले परकोट आदि से युक्त भूमि वाला स्थान

3. जल दुर्ग – चारो तरफ बहुत दूर–दूर तक अगाध जल से भरा हुआ ।

4. वृक्ष दुर्ग – वह प्रदेश जहाँ कम से कम चार कोस तक सघन अर्थात घने वृक्ष हों, कटीली झाड़ियाँ प्रचुर मात्रा में हों विविध प्रकार की लताओं से युक्त हो । विषम नदी व नाले प्रचुर हो । वृक्ष दुर्ग कीश्रेणी में रखने योग्य हो।

---

1. मनुस्मृति : 7/71 एवं शान्ति 56/35
2. युद्ध काण्ड : 3/22
3. नीति मयूख पृष्ठ – 77

मनुष्य दुर्ग-

चारों तरफ हाथी, घोड़ा, रथ एवं पैदल सेना एवं दूसरे बहुत से मनुष्यों से सुरक्षित स्थान।

गिरि दुर्ग-

अत्यधिक कठिनाई से चढ़ने योग्य तथा अधिक संकीर्ण मार्ग होने के कारण बहुत कठिनाई से प्रवेश करने योग्य, नदियों, झरनों आदि वाले पहाड़ों से युक्त स्थान।

नीलकण्ठ भट्ट द्वारा दुर्ग के प्रकारों से वर्णिज राजनिवास योग स्थानों में यह भारत वर्ष, अत्यन्त सुरक्षित हैं जिसके तीन दिशाओं में सुदूर तक जल पूर्ण हिन्दी महासागर आदि समुद्र तथा शेष उत्तर दिशा में उच्चतम शिखर वाला हिमालय पर्वत जिसमें खैवर का दर्रा तथा बोलना अत्यन्त संकीर्ण है। किन्तु भारत और पाकिस्तान में देश विभाजन हो जाने से अबवह प्राकृतिक अजेय सीमा भारत की नहीं रही है।

नीलकण्ठ भट्ट ने उपर्युक्त छः दुर्गों के साथ बन्धु दुर्ग का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार के बन्धु दुर्ग का अर्थ बताते हैं कि बन्धु दुर्ग का तात्पर्य है कि अपने सहोदर भाई जो राजगृह के चारों ओर रहते हैं। जब तक बन्धु दुर्ग संभव हो तब तक अन्य मनुष्य दुर्ग नहीं बनाना चाहिए। इस प्रकार से दुर्ग की नवीनता बनी रहती है।

दुर्ग और उसका महत्व –

राज्य की रक्षा में दुर्ग का बड़ा महत्व है। इसलिए यह राज्य की सप्तात्मक प्रकृतियों में समझा जाता है। दुर्ग के महत्व का वर्णन करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने भी अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं। (जिस प्रकार से) किले में रहने वाला एक धुनरधारी (योद्धा) सौ योद्धाओं से और सौ धर्नुधारी दस हजार योद्धाओं से लड़ता है। इस कारण राजनीतिज्ञ दुर्ग का (प्रशंसा करते हैं) आश्रय लेते हैं।[2]

दुर्गों के महत्व का उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट कहते हैं कि ऊपर वर्णित सभी दुर्गों में गिरी दुर्ग ही श्रेष्ठ होता है। गिरी दुर्ग की श्रेष्ठता का उल्लेख करते हुए नीलकण्ठ भट्ट कहते हैं कि 'राजा' सब प्रयत्न से गिरि दुर्ग का ही आश्रय करें। क्योंकि इन सभी दुर्गों में गिरि दुर्ग अधिक श्रेष्ठ होता है।[3]

आचार्य सोमदेव सूरि ने दुर्ग का महत्व बताते हुए कहा है कि दुर्ग शत्रु के आक्रमण को विफल करके राज्य की रक्षा करता है और स्वामी को आपत्तियों से बचाता हैं क्योंकि इसक समक्ष युद्ध करने वाले शत्रु दुःख का अनुभव करते हैं।

---

1. नीतिंमयूख : पृष्ठ 78
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 782.
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 78

आचार्य श्री कथन है कि जिस देश में दुर्ग नहीं होता वह शत्रु द्वारा ही पराजित कर दिया जाता है। पुनश्च जिस प्रकार समुद्र में गिरे हुए पक्षी का कोई रक्षक नही होता है उसी प्रकार शत्रुकृत आक्रमण के समय दुर्ग शून्य राजा का कोई सहायक नहीं होता।[1]

दुर्ग की सम्पत्ति-

नीतिमयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने लिखा है कि राजा दुर्ग (किला) को हथियार (तलवार, धनुष आदि) धन, (सुवर्ण चांदी आदि) धान्य (गेहूं, चावल चनाह आदि) वाहन (हाथी, घोड़ा, रथ ऊंट आदि) ब्राह्मणों, कारीगारों, यंत्रों चारा (घास, भूसा, खरी, कराई आदि पशुओं के भोज्य पदार्थी) और जल से युक्त रखें।[2]

जिसमें बड़े बड़े शूरबीर और धनाड्य लोग निवास करते हैं। ऐसे नगर के भीतर अपनेवश में रहने वाले मंत्रियों तथा सेना के साथ राजा को स्वयं निवास करना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह उस नगर में कोश, सेना, मित्रों की संख्या तथा व्यवहार को बढावें।[3]

राजा को उस (किले) के बीच में (स्त्रीगृह, देव मंदिर, अग्निशाला, स्नानागार आदि भवनों के अलग अलग होने से, बड़ा खाई परकोटा अर्थात चाहरदीवारी, सेना आदि से) सुरक्षित (सब ऋतुओं में फलने फूलने वाले वृक्ष गुल्म और लता आदि से युक्त होने से, सब ऋतुओं के अनुकूल चूना रंग आदि से उपलिप्त होने से शुक्र (बाबरी, पोखरा) आदि जलाशयों तथा पेड़ों से युक्त अपना (महल, राजभवन) दुर्ग बनवाये।[4]

कौटिल्य तो दुर्ग में सभी आवश्यक सामग्री का पृथक पृथक उल्लेख करते हैं। वह घी, तेल, अन्न, औषधि, सूखे शाक, चारा, सूखा मांस, लोहा, काष्ठ, चमड़ा, कोयला, शस्त्र, पत्थरों आदि के ढेर को इतनी मात्रा में रखने को कहते हैं कि कई वर्षो तक काम आ सकें। इसके अतिरिक्त दुर्ग रक्षार्थ गजबल, अश्व बल, पैदल बल, एवं सेना को अनेक अधिकारियों के अधीन मुख्य स्थानों पर रखा जाय। कौटिल्य के अनुसार अनेक अधिकारी होने पर शत्रु उन्हें अधिकार में नहीं ला सकेगा।[5]

शुक्र ने भी लिखा है कि राजा को ऐसा दुर्ग रखना चाहिए जो युद्ध सामग्री से परिपूर्ण हो। अन्न, शूरबीर, अस्त्र, कोश और सहायकों से पुष्ट दुर्ग श्रेष्ठ समझा जाता है।[6]

---

1. नीतिवाक्यामृत : दुर्ग समुद्देश, पृष्ठ 198–199
2. नीतिमयूखः पृष्ठ 78
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 78
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 78–79
5. कौटिल्य अर्थशास्त्र अधिकरण 2, अध्याय 4, श्लोक 36–37
6. शुक्र नीति अध्याय 4, श्लोक 60–61, पृष्ठ 155

अन्तर-राज्य राजनीति

अन्तर राज्य राजनीति -एक परिचय :

आधुनिक उद्योग एवं विज्ञान प्रधान आणविक युग में अन्तर राज्य रांजनीति का, अपनी जटिलताओं के साथ, जैसा विकसित रूप दीख पड़ता हैं, वैसा विकसित रूप प्राचीन युग में भारत एवं विश्व के अन्य भागों में अनुपलब्ध था। किन्तु प्राचीन भारत के संदर्भ में इस तथ्य को भी नहीं नकारा जा सकता है कि तत्कालीन भारत भूमि के राज्यों ने पारस्परिक संबंधों के संचार हेतु ऐसी अन्तर राज्य राजनीति के उत्पत्ति कर ली थी, जो कालान्तर में पर्याप्त विकसित भी हुई। अन्तर राज्य राजनीति का यह विकास उसके सैद्धांतिक व व्यवहारिक दोनों ही क्षेत्रों में तत्कालीन युगों की परिस्थितियों के अनुरूप प्रकट हुआ!

विद्वानों का मत है कि भारत में अन्तर राज्य राजनीति की शुरुआत वैदिक[1] एवं उत्तर वैदिक काल[2] में हो चुकी थी, किन्तु ऐतिहासिक रूप से अन्तर राज्य राजनीति का स्पष्ट परिचय मौर्यकाल से प्रारंभ होता है और ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे विदित होता है कि ईसा पूर्व भारत के विभिन्न राज्यों के यूनान, रोम, सीरिया, मिश्र, लंका, चीन आदि से अन्तर राज्य संबंध स्थापित किए थे और विभिन्न रूपों में ये क्रम ईसा बाद आठवीं सदी तक चलता रहा था।[3] प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेखनीय है कि भले ही ऐतिहासिक प्रमाण प्राचीन भारत के राज्यों के विश्व के अन्य राज्यों से संबंधों को प्रमाणित करते हैं। किन्तु प्राचीन राजधर्म के ग्रंथों ने अन्तर राज्य राजनीति के जिस पक्ष को प्रकाशित किया है। उसका संबंध तत्कालीन विशाल देश से है, जिसमें विभिनन स्तर के अनेकानेक उपराज्य थे। "ऋग्वेद" में यदुओं, तुर्वसुओं, द्रह्यओं, अनुओं एवं पुरुओं के राजकुल का वर्णन

---

1. डॉ0 रामजी उपाध्याय – प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका– पृष्ठ 578
2. अल्टेकर : प्रचीन भारतीय शासन पद्धति पृष्ठ – 214–25
3. डॉ0 रामजी उपाध्याय : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका पृष्ठ –580–583
   पंडित रघुनंदन शर्मा – वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ 350–351

है। ऐतरेय ब्राह्मण में भारतवर्ष को पांच भागों में बांटा गया हैं महाभारत में कपितय प्रसंगों में 200 राज्यों के नाम आए हैं। राजशेखर की काव्य मीमांसा में 70 देशों के नाम हैं जिसमें मध्य भारत के दे`शों के नाम नहीं हैं। भाव प्रकाश में 64 देशों के नाम दिए हैं। यादव प्रकाश की वैजयन्ती (एक कोप) में 100 देशों के नाम दिए हैं।[1] पौराणिक ग्रंथों में 56 भारतीय राज्यों कें नाम दिए हैं।[2] जिनकी ऐतिहासिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व सामाजिक पृष्ठभूमि सामान्य प्रकृति वाली थी। अपनी इस सामान्य पृष्ठ भूमि के कारण ही ये राज्य अन्तर राज्य राजनीति के क्षेत्र में पारस्परिक व्यवहार व अन्तर क्रिया के सामान्य नियमों का विकास करने में समर्थ हुए।

कामन्दकीय नीतिसार एवं अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथों ने अपने युगानुरूप अन्तर राज्य संबंधों को व्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत किया है और उनके समस्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्तर राज्य राजनीति के बारे में उनकी आधारभूत मान्यताएं अवश्य थीं, जिन्हें हम आधुनिक भाषा में सिद्धांत कह सकते हैं। प्राचीन आचार्यों के विवरण से ज्ञात होता है कि राज्य की विदेश नीति के संचालन में सर्वोच्च अधिकारी स्वयं राजा ही होता था, किन्तु इस क्षेत्र में उसके विशिष्ट सहयोगी मंत्री (पर–राष्ट्रमंत्री) दूत तथा चर होते थे। इसके अतिरिक्त राज्यों के मध्य आपसी व्यवहार हेतु सुनिश्चित एंव सर्वमान्य राजनायिक साधनों (चार उपाय व षडगुण मंत्र) का विकास किया गया था। आचार्यों ने अन्तर राजनीति कों मंडल सिद्धांत के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। जिसके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि राज्यों के आपसी संबंधों के निर्धारण में शक्ति, भूगोल तथा राजहित (राजा का हित) के कारकों का विशिष्ट महत्व होता था।

प्रजाहित ही राज्य हित है-

राज्य लाभ और राज्य प्रतिपालन के संबंध में राजाओं को जो उपाय अवलम्बन करने उचित हैं। आचार्य कामन्दक ने उनका विस्तृत उल्लेख किया है। राजा के संबंध में उनका मत है कि चन्द्रमा जिस प्रकार समुद्र को आल्हादित करता है उसी प्रकार राजा प्रजा के नेत्रों को आनन्द देता है। यदि भली प्रकार शिक्षा करने वाला राजा न हो तो समुद्र में कर्णधारहीननौका के समान

---

1 . पी0 वी0 काणे का 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (भाग –2) पृष्ठ 641–642

2 . डॉ0 जी0 सरकार : स्टडीज इन द जाग्रफी ऑफ एन्सीयन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृष्ठ –68

प्रजागण विपत्ति को प्राप्त हो जाय। धर्मानुसार भली प्रकार पक्षपात रहित होकर पुत्र के समान प्रजापालन में तत्पर शत्रुनाशक राजा को प्रजापति अर्थात सृष्टिकर्ता के समान प्रजा सर्वभाव से सम्मान करती है। राजा दण्ड योग्य व्यक्तियों को दण्डित करें, अदण्ड व्यक्तियों का सम्मान करें तथा प्रजा की शत्रुओं से भली भांति रक्षा करता हुआ पालन करें तो प्रजाजन भी धान्य धन आदि द्वारा प्राणपण से राजा की सम्पत्ति बढ़ाता है। बढ़ाना तथा पालना इनमें पालना ही श्रेयस्कर है कारण कि शत्रुओं के हाथ से प्रजा की रक्षा न करने से राजा का मंगल नहीं होता। जिस समय राजा न्यायपरायण होता है तब वह अपने को तथा प्रजा को भी त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का उपभोग करा सकता हैं अन्यथा राजा अवश्य ही त्रिवर्ण का नाशक होता है।[1]

सारांशतः आचार्य कामन्दक मानते हैं कि राजा राज्य में ईश्वर तुल्य है किन्तु वह नैतिक नियमों में बँधा हुआ है तथा उसका सर्वप्रमुख दायित्व प्रजा रक्षण तथा उसका संवर्द्धन है। प्रजा के हित में ही राजा का हित है, इसके विपरीत जाने पर राजा नष्ट हो जाता है।

अधिकांश प्राचीन भारतीय आचार्य मानते हैं कि ईश्वर ने अपनी जन हितकारी नीति के कारण राज्य की स्थापना की ओर राजा नियुक्त किया, जिसने प्रजा की इच्छा से शासन संभाला। यही कारण है कि राजा को ईश्वर का प्रतीक एवं प्रजापालक कहा गया है और उसी में राज्य के स्वरूप को देखा गया है। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने राजा पर जितने अंकुश लगाए हैं उतने तो किसी गुलाम पर भी नहीं लगाए जा सकते हैं। महाभारतकार का कथन है कि प्रजा के सुख में राजा का सुख तथा प्रजा के हित में उसका हित है। राजा का अपना प्रिय (स्वार्थ) कुछ नहीं है। प्रजा का प्रिय ही उसका प्रिय है।[2]

---

1. उपार्जने पालने च भूमेर्भूमीश्वरं प्रति।
   यत्किञ्चिदुपदेक्ष्यामो राजाविद्याविदां मतम्।। 8।।
   राजाऽस्य जगतो हेतुर्वृद्धेर्वृद्धाभिसम्मतः।
   नयनानन्दजननः शशांक इव तोयधेः।।9।।
   यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा।
   अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव।। 10।।
   धार्मिकं पालनपरं सम्यक् परपुरञ्जयम्।
   राजानमभिमन्येत प्रजापतिमिव प्रजा।। 11।।
   प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्द्धयति पार्थिवम्।
   वर्द्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत्।।12।।
   न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमपि च प्रजाः।
   त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते निहन्ति ध्रुवमन्यथा।। 13।।
   —काम0 सर्ग– 1 श्लोक 8 से 13 तक
2. शांतिपर्व : 80 एवं अर्थ 1/18

अरिमित्र उदासीन लक्षण (मण्डल सिद्धांत)-

प्राचीन भारत के सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य की विदेश नीति का प्रमुख आधार मण्डल सिद्धांत माना है। विदेश नीति की सफलता अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अधिकाधिक मित्र बनाना, संकट के समय उनसे हर प्रकार की सहायता प्राप्त करना एवं अपने पक्ष तथा शत्रु के पक्ष में विश्व का जनमत निर्माण करना आदि बातों पर निर्भर हैं। आचार्य मनु ने भी मण्डल सिद्धांत की मान्यता को स्वीकार करते हुए राज्यों को चारों मुख्य श्रेणियों में विभक्त कर मित्र, शत्रु, मध्यम, उदासीन राज्यों के नाम से संबोधित किया है। इस प्रकार मनु ने भी राज्य की वाह्य नीति का प्रमुख आधार मण्डल सिद्धांत माना है।[1]

मण्डल सिद्धांत का उल्लेख करते हुए आचार्य कौटिल्य ने भी राजाओं के नौ भेद किए हैं। राजाओं को यह नौ भेद उदासीन, मध्यम, विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहसार, आक्रन्दासार है।[2]

आचार्य सोमदेव सूरि ने इस विषय में कौटिल्य के मत का ही अनुसरण किया हैं। उन्होंने भी राजाओं को उदासीन, मध्यम, विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, आकन्द पार्ष्णिग्राहसार, आकन्दासार, आदि नौ श्रेणियों में परिगणित किया है।[3] मण्डल सिद्धांत की प्राचीन पद्धति के अनुसार उन्होंने मण्डल की चार मूल प्रकृतियों अथवा राजप्रकृतियाँ मानी हैं जिन्हें उन्होंने भी विजिगीषु, अरि, उदासीन और मध्यम के नाम से संबोधित किया है।[4]

कामन्दक ने नीतिसार में मण्डल सिद्धांत का उल्लेख करते हुए विविध राजमण्डलों और उसके विशेष लक्षणों का भी उल्लेख किया हैं। कामन्दक ने मण्डल की मूल प्रकृति मानते हुए विजीगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन इन चार श्रेणियों में राजाओं को परिगणित किया है।[5]

आचार्य नीलकण्ठ भट्ट की भी आस्था मण्डल सिद्धांत में थी। उन्होंने भी राजमण्डल का उल्लेख करते हुए याज्ञवल्क्य के समरूप ही 12 प्रकार के राजमण्डलों का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात

---

1. मनुः मानवधर्म, अध्याय 7, श्लोक 155-56, पृष्ठ 306-7
2. कौटिल्य अर्थशास्त्र : वार्ता 23 से 30 तक अ0 2 , अधि 6
3. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ0 श्याम लाल पाण्डे, पृष्ठ 330
4. भारतीय राजशास्त्र प्रणेताः डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय, पृष्ठ 384
5. कामन्दक नीतिःसर्ग 8, श्लोक 20

होता है कि नीलकण्ठ को राजमण्डल संबंधी ज्ञान गहरा था। नीलकण्ठ (इन्होंने) अरि (शत्रु) मित्रः उदासीन, इन तीन श्रेणियों में राजाओं को परिगणित कर मंडल सिद्धांत की मूल प्रकृति माना है। शत्रु, मित्र, उदासीन राज्यों की व्याख्या करते हुए आचार्य नीलकण्ठ ने कहा है कि सीमा से सटे हुए राज्य उसके बाद के राज्य, और उसके भी बाद के राज्य पर शासन करने वाला राजा क्रमशः शत्रु, मित्र, उदासीन, होते हैं। इन राजा मंडलों पर क्रमशः (पूर्वदिदिशा से लेकर) ध्यान रखना चाहिए। और इसके बाद साम आदि उपायों का प्रयोग करना चाहिए।[1]

नीलकण्ठ ने राजमण्डल के प्रत्येक राजा अरि, मित्र, उदासीन प्रत्येक को सहज, कृत्रिम और प्राकृतिक तीन तीन भागों में बाँटा है।

1. अरि–

सामान्यता जो राजा सद्व्यवहार करने पर भी हमेशा दुष्टता एवं विरोध का ही व्यवहार करता है। उसे अरि अथवा शत्रु राजा कहते हैं। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में अरि राजा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिन राज्यों की सीमाएं परस्पर संबद्ध होती हैं वे राज्य स्वभावतः शत्रु होते हैं।[2]

मनु ने भी उन राज्यों को परस्पर शत्रु माना है जिनको सीमाएं परस्पर संबद्ध होती हैं।[3]

आचार्य नीलकण्ठ ने सीमा से सटे हुए राज्य के राजा को शत्रु माना है।[4] आचार्य नीलकण्ठ ने अरि के तीन भेद कहे हैं।

1. सहज अरि–

नीलकण्ठ भट्ट का सहज अरि से तात्पर्य राजा का सौतेला भाई, चचेरा भाई तथा उनके पुत्र आदि से है।[5]

2. कृत्रिम अरि –

कृत्रिम के अन्तर्गत वे शत्रु होते हैं जिनका उपकार्य हुआ हो। अथवा जिसके द्वारा अपकार्य किया गया हो।[6]

3. प्राकृतिक अरि –

प्राकृतिक अरि के अन्तर्गत सीमा से लगे हुए अन्य देशों के राजा आते हैं।[7]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 67
2. कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० 6 अ० 2 पृष्ठ 394
3. मनुस्मृति अ० 7 पृष्ठ 308
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 67
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 67
6. नीतिमयूख : पृष्ठ 67
7. नीतिमयूख : पृष्ठ 67

2. मित्र – मनुस्मृति में शत्रु राजा के दूसरी ओर उसके राज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले राज्य को मित्र राज्य की संज्ञा दी गई है। आचार्य कौटिल्य ने मित्र राज्य के तीन भेद कहे हैं। प्रकृति मि, सहज मित्र और कृत्रिम मित्र। राजा के अपने राज्य की सीमा से संबद्ध सीमा वाले राज्य को कौटिल्य ने प्रकृति की संज्ञा दी हे। माता पिता से संबंधित राजा को सहज मित्र माना है, धन और जीवन हेतु जो राजा किसी अन्य का आश्रय ग्रहण करता है वह कृत्रिम मित्र कहलाता है।[1]

कामन्दक के अनुसार जो कष्ट के समय दूसरे की सहायता करता है वह मित्र कहलाता है।

आचार्य नीलकण्ठ ने भी कौटिल्य की भांति मित्र के सहज, कृत्रिम और प्राकृतिक तीन भेद किए हैं।

1. सहज मित्र-

सहज मित्र से तात्पर्य भांजा, पिता, साले अथवा माता के पारिवारिक भाई आदि से है। 2

2. कृत्रिम मित्र -

जिनके प्रति उपकार किया जाता है अथवा जिसके प्रति उपकार किया गया हो।[3]

3. प्राकृतिक मित्र-

प्राकृतिक मित्र के अन्तर्गात नीलकण्ठ भट्ट ने अपनी सीमा से दूर रहने वाले राजा को माना है।[4]

3––उदासीन–

कौटिल्य ने विजयाभिलाषी और मध्यम राजा से परे अपनी बलिष्ठ सप्तप्रकृतियों से संपन्न बलवान राजा उपर्युक्त तीनों प्रकार के राजाओं (अरि) विजयाभिलाषी और मध्यम को पृथक पृथक अथवा उन सबको सहायता देने वाले (अनुग्रह देने) अथवा उनको निग्रह करने में समर्थ हो तो ऐसे राजा को उदासीन नाम से संबोधित किया है। और इस राजा के राज्य को उदासीन राज्य कहा है। [5] जो राजा किसी अन्य विजयाभिलाषी राजा के आगे पीछे अथवा पार्श्व भाग में स्थित हो तथा उसमें मध्यम आदि युद्ध करने वालों को निग्रह करने तथा उन्हें युद्ध से रोकने की भी समर्थ्य हो, परन्तु फिर भी किसी कारणवश वह दूसरे विजिगीषु राजा के विषय में उपेक्षा करता हो, अर्थात उससे युद्ध न करता हो, उसे उदासीन कहते हैं।[6]

---

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि0 6 अध्याय 2, पृष्ठ 395
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 67
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 67
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 67
5. डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : कौटलीय राज्य व्यवस्था, पृष्ठ 209, कौटिलीय अर्थशास्त्रम, अधि 06 अध्याय 2, श्लोक 29
6. नीतिवाक्यामृत : षाड्गुण्य समुद्देश, पृष्ठ 318

आचार्य नीलकण्ठ ने अपने नीतिमयूख में उल्लेख किया है कि सहज कृत्रिम शत्रु और मित्र के लक्षण से रहित उदासीन कहा जाता है। प्राकृतिक उदासीन ऐसे देश का राजा कहा जाता है जिसके देश की सीमा के मध्य दो देशों का अन्तर हो।

षाऽगुण्य -

प्राचीन भारतीय सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने मंत्र को राज्य का मूल माना है। जिन्हें उन्होंने षाड्गुण्य की संज्ञा दी है। राजाओ की विजय अथवा पराजय इसी मंत्र पर आधारित है। प्राचीन भारत के अनेक आचार्यों ने मंत्र के 6 गुण बतलाए हैं।

इस प्रकार से मीमांसाकार आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने राजा के छः मंत्रों को संयुक्त रूप से माना है।[1]

मनु ने भी षाड्गुण्य (मंत्र) को स्वीकार किया हैं मनु ने मानवधर्म शास्त्र में राजा को आदेश दिया है कि राजा को अपने मंत्रियों में सबसे अधिक धर्मात्मा और बुद्धिमान ब्राह्मण मंत्री के साथ षाड्गुण्य युक्त परम मंत्र का निश्चय करना चाहिए।[2]

महाभारत में भी भीष्म षाड्गुण्य मंत्र का आदेश देते हुए बताते हैं कि षाड्गुण्य मंत्र, त्रिवर्ग तथा परम त्रिवर्ग को जो राजा विधिवत जानता है वहीं राजा इस संपूर्ण पृथ्वी का भोग करता है।[3]

शुक्र ने भी मंत्र षाड्गुण्य मय बतलाया है।[4] इसलिए इन आचार्यों ने भी मंत्र को षाड्गुण्य मंत्र के नाम से संबोधित किया है। इस षाड्गुण्य मंत्र की योनि (बहत्तर प्रकृतियों) से युक्त राज मंडल होता हे। ऐसा कौटिल्य मत है। कौटिल्य के मतानुसार इस षाड्गुण्य मंत्र का उद्देश्य क्षय, स्थान और वृद्धि का निश्चिय करना होता है।[5]

आचार्य सोमदेव सूरि ने भी प्राचीन नीति प्रणेताओं के आधार पर मंत्र को षाड्गुण्य मय माना है।[6]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 63 2. मनुः मानव धर्मशास्त्र अ 7, श्लोक 28
3. महाभारत : भीष्म– शांतिपर्व, अ0 69, श्लोक 66
4. शुक्रनीति : अ0 4, श्लोक 1065
5. कौटिलीय अर्थशास्त्र : अ0 1, अधि0 7, श्लोक 21
6. नीतिवाक्यामृत : षाड्गुण्य समुद्देश, पृष्ठ 323

आचार्य कौटिल्य ने अन्य आचार्यों के अनुसार ही सीधे विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव मंत्र के छ गुण स्वीकार किए हैं।[1]

वात व्याधी मंत्र के केवल दो ही गुण संधि और विग्रह मानते हैं और इन्हीं दो गुणों में शेष चार गुणो को समाहित बताया हैं परन्तु आचार्य कौटिल्य इस मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि शेष चार गुणों का समावेश इन दो गुणों में नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी अवस्था में भेदहै। इसलिए मंत्र के उपर्युक्त 6 गुण मानना ही उचित होगा।[2]

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने भी इस परम्परा को मान्यता दी है। इन्होंने संधि विग्रह, आसन, द्वेधी भाव और संश्रय आदि को मंत्र (षाड्गुण्य) का भेद माना हैं नीलकण्ठ ने हमेशा इनके विचार करने पर जोर दिया है।[3]

षाडगुण्य मंत्र के 6 (गुण) भेद–

सन्धि – नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में संधि की कोई विशेष परिभाषा नहीं दी हैं, लेकिन उन परिस्थितियों का उल्लेख अवश्य किया हैं जिनके उपस्थित होने पर राजा को संधि का गुण का आश्रय लेना उचित होगा। संधि के निरूपण के लिए नीलकण्ठ ने कहा है कि जब राजा बलवान शस्त्र से आक्रान्त हो जाए, उसे बचने का कोई अन्य उपाय न सूझे तो ऐसी परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर विपत्तिग्रस्त काल व्यतीत करते हुए राजा को संधि गुण का आश्रय लेना चाहिए।[4]

संधि की परिभाषा करते हुए मनु ने कहा है कि दोनों के सुख चैन के लिए हाथी घोड़ा आदि सैनिक शक्ति तथा सुवर्ण आदि धन के द्वारा परस्पर में एक दूसरे की सहायता करने की प्रतिज्ञा करने को संधि कहते हें।[5]

संधि की परिभाषा करते हुए कौटिल्य का मत है कि कुछ पणों (शर्तो) के आधार पर दो राज्यों में जो मेल जो होता हे। उसी को संधि कहते हैं। कौटिल्य ने संक्षेप में उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया हैं जिनमें राजा को संधि गुण का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। इस विषय में कौटिल्य ने

---

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र : अ01, अधि0 7 श्लोक 3
2. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : पृश्ठ 212
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 63
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 64
5. मनुः मानवधर्मशास्त्र, 163/7

कहा है कि यदि राजा अपने शत्रु से अपने को दुर्बल समझता है तो ऐसी परिस्थिति में उसको संधि कर लेनी चाहिए। जिन परिस्थितियों में दो शत्रु राजाओं को समान फल प्राप्त हो रहा हो अथवा समान वृद्धि हो रही हो तो ऐसी परिस्थिति में उन दोनों राजाओं को संधि का आश्रय लेना चाहिए।

संधि के भेद-

प्राचीन संधि ज्ञाताओं ने संधि के सोलह भेद किए हैं। जो निम्न प्रकार हैं। कपाल, उपहार, संतान, संगत, उपन्यास, प्रतीकार, संयोग, पुरूषान्तर, अदृष्टनर, आदिष्ट संधि, आत्मविषु, उपग्रह, संधि, परिक्रम संधि, परिदूषण संधि, उच्छिन संधि, स्कन्धोपनेप संधि आदि। लेकिन कामन्दक महोदय ने संधि के 20 भेद बतलाए हैं। उन्होंने अपने से पूर्व के राजशास्त्र प्रणेताओं के अलावा जो अन्य चार प्रकार की संधियां मानी हैं वे निम्न हैं। 1. उपकार संधि, 2. मैत्रय संधि, 3. सम्बन्ध संधि, 4. उपहार संधि।

नीलकण्ठ भट्ट ने भी कामन्दक के समान ही संधि के 20 भेद माने हैं। और इन्होंने इन बीसों प्रकार की संधियों में उपहार संधि व मैत्री संधि को सबसे प्रमुख माना है। तथा इन दो प्रमुख संधियों को नीलकण्ठ भट्ट ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है।[1]

उपहार संधि – जो संधि द्रव्य दान देकर दो राजाओं के मध्य की जाती हैं वह उपहार संधि कहलाती है। क्योंकि बली (चढ़ाई करने वाला) बिना लोभ के निवृत्त नहीं होता, अतः किसी न किसी रूप में भेंट प्रस्तुत की जाने वाली संधि को उपहार संधि कहते हैं। इसलिए उपहार प्रदान करने के अतिरिक्त संधि का अन्य कोई साधन नहीं होता।[2]

मैत्री संधि– जब परस्पर मित्र भाव की स्थापना की जाए, तब इस प्रतिज्ञा से आवद्ध होकर की जाने वाली संधि मैत्री संधि कहलाती है।[3]

संधि के अयोग्य व्यक्ति -

मीमांसाकार नीलकण्ठ भट्ट ने अपने नीति ग्रंथ में कुछ ऐसे व्यक्तियों की सूची दी है जिनसे संधि करना निषेध बतलाया है। जैसे बालक, वृद्ध (बूढ़ा) दीर्घकालीन रोगी, जाति से बाहर, डरपोक (भीरू) दूसरे को भय उत्पन्न करने वाला, लोभी, लब्धजन, विरक्त स्वभाव वाला विषयों में अति तत्पर, दुभिक्ष व्यसन में लगा हुआ, सेना की आपत्ति से युक्त, कुदेश व दूसरे देश में स्थित बहुत शत्रु वाला, जो समय पर प्रतीक्षा पर स्थिर नहीं रहता, इनसे संधि न करें, केवल विग्रह ही करें, यह विग्रह को प्राप्त होकर शीघ्र ही शत्रु के वश में हो जाते हैं।

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 63
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 63
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 63–64

इस प्रकार नीलकण्ठ भट्ट ने अयोग्य व्यक्तियों से संधि न करने के संबंध में निम्न प्रकार से अपने विचार व्यक्त किए हैं।

बालो...रिपोर्वशम्।।[1]

कामन्दक महोदय ने भी अपने नीतिसार में 20 प्रकार के व्यक्ति संध करने के अयोग्य बतलाए हैं। जैसे बालक, वृद्ध, दीर्घकालीन रोगी, जाति से निकला हुआ, भीरू, दूसरों को भीरू बनाने वाला, लोभी, लुब्धजन, विरक्त प्रकृति, अति व्यसनग्रस्त, अनेक चित्त से मंत्र सम्मति करने वाला, देव, ब्राह्मण, निदंक, देव से हत, भाग्य के सहारे रहने वाला, देशहीन, बहुत शत्रु वाला, समय पर प्रतिाा भंग कर देने वाला, और सत्य धर्म से रहित, ये बीस प्रकार के व्यक्ति संधि के अयोग्य बतलाए हैं। [2]

संधि के योग्य व्यक्ति -

अपने समकालीन विचारकों के समान ही नीलकण्ठ भट्ट ने अपनी नीतिमयूख में संधि प्रकरण में कहा है कि राजा को संधि करने योग्य व्यक्तियों के सथ ही संधि करनी चाहिये तथा नीककण्ठ भट्ट कहते हैं कि अनार्य के साथ ही संधि करें। कारण है कि वह प्राप्त कर सब ही प्रदान कर देता हे। जिस प्रकार से घने मिले हुए बॉस घनिष्ठ कॉटों से युक्त हो जाते हैं और वह अच्छेध हो जाते हैं इसी प्रकार कुटुम्बी पुरुष का सहज में ही छेदन नहीं किया जा सकता। बली के साथ निर्बल को युद्ध करना चाहिए ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है। कभी भी मेघ पवन के प्रतिकूल नहीं चलता है। समय पराक्रम करने वाला तथा नम्र होने वाले पुरुष की सम्पत्ति कभी नहीं जाती जेसे निचान की ओर बहने वाली नदियां कभी निचार की ओर नहीं आना छोड़ती। संधि करके भी राजा किसी का विश्वास न करे। मैं फिर बैर न करूंगा, यह कहकर भी वृत्रनेअसुर को मार डाला था।[3]

इसी प्रकार कामन्दक ने भी अपने नीतिमयूख में सात प्रकार के व्यक्ति संधि के योग्य बतलाये हैं।

1. सत्यवादी– सत पुरुष सत्य का पालन करता है।

2. आर्य पुरुष – आर्य पुरुष कभी अनार्यपन को प्राप्त नहीं होता।

3. धार्मिक – जो व्यक्ति धार्मिक विचार रखता हो।

4. अनार्य – अनार्य के साथ ही संधि करें क्योंकि वह प्राप्त कर सब ही प्रदान कर देता है।

5. बन्धुओं से सम्पन्न – जिस व्यक्ति के अनेक बन्धुजन होते हैं।

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 64
2. कामन्दक नीतिः सर्ग 9 श्लोक 22 से लेकर 26 तक
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 64

6. बलवान – अपने से बलवान के साथ संधि करना उचित है।

7. अनेक युद्ध विजयी– जिस पुरुष ने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की हो ऐसे व्यक्ति से संधि करना उचित होगा।

2–विग्रह – मीमांसाकार नीलकण्ठ भट्ट ने षाड्गुण्य मंत्र का एक गुण विग्रह भी माना है। विग्रह से नीलकण्ठ भट्ट का अभिप्राय इस प्रकार हैं अपने अभ्युदय (कल्याण) की इच्छा करने वाला, शत्रु से पीड़ित हुआ, अच्छे देश काल व सेना से युक्त होकर, विग्रह आरम्भ करें । 1

मनु ने भी षाड्गुण्य मंत्र का एक गुण विग्रह माना है। विग्रह से मनु का तात्पर्य उपकार करने से जान पड़ता है।[2]

कौटिल्य के अनुसार परस्पर एक दूसरे से उपकार में सलंग्न हो जाना विग्रह गुण को प्राप्त होना है। राजा के लिए विग्रह गुण का आश्रय लेना तब उचित है जब वह अपने को शत्रु की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली पाता है।[3]

कामन्दक ने विग्रह गुण की व्याख्या करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त कियाहै –क्रोध धारण किए हुए, क्रोध से ही संतृप्त चित्त वाले दो व्यक्तियों का परस्पर अपकार में संलग्न होना विग्रह कहलाता है।[4]

विग्रह के विषय में सोमदेव ने लिखा है कि किसी राजा का दूसरे राजा के प्रति अपराध करना विग्रह कहलाता है।[5]

विग्रह गुण की परिभाषा करते हुए चण्डेश्वर ने अपने राजनीति रत्नाकर में लिखा है कि दूसरे के अपकार में संलग्न हो जाने को विग्रह कहते हैं।[6]

नीतिमयूखाकार ने राजा स्त्री स्थान, देश को पीड़ित करना, सवारी, धन, इनका हरण कर लेना, मदयुक्त होना, आदि विग्रह के कारण बताए हैं। विग्रह के ये कारण वैषयिकी देश से सम्बन्ध रखते हैं।[7] इस विषय में पुनः नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि मित्र के निमित्त व अपमान होने से–

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 64
2. डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, पृष्ठ 58
3. कौटिलीय अर्थशास्त्र : वार्ता 6–13, अ0 1, अधि0 7,
4. कामन्दक नीतिः सर्ग 10, श्लोक 17
5. नीतिवाक्यामृतः वार्ता 44, सु0 29
6. चण्डेश्वर : राजनीति रत्नाकर
7. नीतिमयूख : पृष्ठ 64

तथा कुछ विनाश के कारण प्राणियों के अनुग्रह के विगड़ने से व मंडल के दूषित करने से तथा एक प्रयोजन में दोनों के लगने से विग्रह उपस्थित होता है।[1]

कामन्दक के अनुसार विग्रह के कारण निम्न हैं– राज्य, स्त्री, स्थान, देश, यान और धन का अपहरण, देशवासियों का पीड़ित किया जाना मद और मान का होना, ज्ञान शक्ति का विघात, धर्म का विघात और देव का रूष्ट होना, मित्र के निमित्त अथवा अपमान होने से तथा बन्धु विनाश का होना, प्राणियों का अनुग्रह विच्छेद होना, मण्डल का दूषित होना और दो पुरुषों के एक ही प्रयोजन का होना आदि विग्रह के मूल कारण होते हैं।[2]

जिन परिस्थितियों में विग्रह का आश्रय लेना श्रेयस्कर होता है का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि यदि विजयाभिलाषी राजा इस परिस्थिति में हो कि उस राज्य में प्रायः लोग शस्त्र प्रयोग में कुशल और संगठित हैं। तथा पर्वत, वन, नदी और दुर्ग से उनका राज्य सम्पन्न है। उसके राज्य में प्रवेश हेतु केवल एक द्वार है। वह शत्रु के द्वारा किए गए आक्रमण का वीरतापूर्वक उत्तर देने में समर्थ है और अपने राज्य की सीमा के दृढ़ दुर्ग में स्थित होकर शत्रु के कार्यों का नाश कर सकता है। व्यसन और कष्टों से उसके शत्रु का सारा उत्साह नष्ट हो रहा है, इस समय वह शत्रु के वश किया जा कता है। यदि युद्ध छिड़ गया तो वह अपने शत्रु के कुछ भूभागों पर अधिकार करने में समर्थ हो सकेगा। तो इन परिस्थितियों में उक्त राजा के लिए विग्रह गुण का आश्रय लेना उचित होगा।

सोमदेव सूरि का मत है कि यदि राजा यह समझता है कि वह शत्रु की अपेक्षा अधिक वलिष्ट है और उसकी सेना में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं है ऐसी परिस्थिति में विग्रह गुण का आश्रय लेना उचित होगा।[4]

नीलकण्ठ ने विग्रह के अन्तर्गत कर्तव्य और अकर्तव्य का स्वरूप इस प्रकार कहा है कि वर्तमान में फल की प्राप्ति देखने से, आपत्ति काल में फल की प्राप्ति न होने में, आगामी काल में फल की प्राप्ति होने में और वर्तमान में निष्फल ऐसा स्मरण करें: दोनों में ही फलवान उत्तम है इस प्रकार वह तीन

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 64
2. कामन्दक नीतिसार : सर्ग 10 श्लोक 3–5
3. कौटिलीय अर्थशास्त्र : अ0 1, अधि 7, वार्ता 48 से 52
4. नीतिवाक्यामृतः वार्ता 51, समु 29
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 64

प्रकार की है। उभय (दो) होने पर भी मध्यम हैं जब वह फलहीन होती है तब अधम कही जाती है नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि विग्रह का शमन अवश्य करना चाहिए।[1]

यान– नीलकण्ठ भट्ट ने गुणों में अनुरक्त यात्रा को यान कहा है।[2]

कामन्दक का मत है कि बल और वीर्य में उत्कृष्ट विजयाभिलाषी जयशील, प्रकृति के गुणों में अनुरक्त, राजा की यात्रा को स्मृतियों में यान कहा गया है।[3]

यान के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि एक राजा द्वारा दूसरे राजा पर आक्रमण करने को यान कहते हैं।[4]

सोमदेव सूरि विजीगीषु द्वारा शत्रु पर विजय हेतु गमन (चढ़ाई) करने को यान मानते हैं। लेकिन इन्होंने इस परिस्थिति में यह प्रतिबन्ध भी लगाया है कि विजीगीषु अतिशय गुण सम्पन्न हो और उसका राष्ट्र राज्य कण्टकों (चोर, चरट, पापकाकर, धमन, राज बल्लभ आदि) से शुद्ध हो तो ऐसी परिस्थिति में ही यान गुण का आश्रय लेना उपयुक्त होगा।[5]

यान के विषय में चण्डेश्वर का मत है कि शत्रु के विरुद्ध गमन करना यान कहलाता है।[6]

यानकाल – नीतिमयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने यान के काल (समय) के विषय में कहा है कि राजा शुभ मार्ग शीर्ष (अगहन) मास में या फाल्गुन अथवा चैत्र मास में सेना के अनुसार शत्रु के नगर की ओर बढ़े अर्थात उक्त समय में ही शत्रु पर आक्रमण करें। दूसरे समय में (महीनों में) भी जब राजा अपनी विजय निश्चित समझें अपने सैन्य बल से युक्त होकर विग्रह कर शत्रु पर चढ़ाई करें और जब शत्रु को अमात्य आदि के विरोध (फूट बैर) या कठोर दण्ड आदि से व्यसन में पड़ा हुआ समझे तब भी (भीष्म आदि) अन्य समय में शत्रु चढ़ाई करें।[7] नीलकण्ठ भट्ट ने वर्षा ऋतु में भी यान (चढ़ाई) करने की स्वीकृति दी है।[8]

यान के भेद – नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में यान के पांच भेद बताए हैं। जिन्हें उन्होंने विग्रहय यान, सम्भूयान, प्रसंगयान और उपेक्षायान के नाम से संबोधित किया है।[9]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 65
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 65
3. कामन्दक नीतिः सर्ग 11, श्लोक 1
4. कौटिलीय अर्थशास्त्र, अ0 1, अधि0 7, वार्ता 9
5. नीतिवाक्यामृतः वार्ता 45–53, समु0 29
6. चण्डेश्वर : राजनीति रत्नाकर
7. नीतिमयूख : पृष्ठ 67
8. नीतिमयूख : पृष्ठ 67
9. नीतिमयूख : पृष्ठ 67

कामन्दक ने भी नीतिसार में उपर्युक्त पांच प्रकार के यान का उल्लेख किया है।[1]

विग्रहयान–

विग्रहयान की व्याख्या करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जब कोई राजा अपने शत्रुओं पर अपने बल सहित दमन करने के निमित्त गमन करता है तो इस प्रकार के गमन को यान के ज्ञाता आचार्यों के विग्रहयान की संज्ञा दी है। शत्रु के सभी मित्रों को अपने सभी मित्रों के साथ बल सहित लड़ाकर सत्य पर जो आक्रमण किया जाता है। वह विग्रहयान कहलाता है।[2]

2. सन्धायान–

अपने राज्य के पीछे स्थित शत्रु राजा से संधि करने के उपरांत शत्रु राजाओं पर विजय की अभिलाषा से गमन करने को नीलकण्ठ भट्ट ने सन्धाय यान के नाम स संबोधित किया है।[3]

3. संभूय यान –

जब एक राजा अपने सम्मत साथी उन राजाओं के संग मिलकर जो अर्थ और बल से युक्त होकर गमन करें इस प्रकार के यान को नीलकण्ठ ने सम्भूयान के नाम से संबोधित किया है।[4]

4. प्रसंग यान –

यदि कोई राजा किसी कार्यवश कहीं जा रहा हो तो उस बीच में किसी कारण से अन्य किसी राजा पर आक्रमण कर दिया जाय तो इस प्रकार के आक्रमण को नीलकण्ठ भट्ट ने प्रसंग यान की उपाधि दी है।[5]

5. उपेक्षा यान –

जब कोई बलवान राजा शत्रु पर आक्रमण करता है और इस प्रकार का फल विपरीत होता है तो उसकी उपेक्षा को नीलकण्ठ ने उपेक्षायान माना है। उपेक्षा यान को स्पष्ट करने के लिए नीलकण्ठ भट्ट ने महाभारत से उस दृष्टान्त को उद्घृत किया हैं, जिसमें अर्जुन ने हिरयण्पुर वासी जनों को छोड़कर उनकी उपेक्षा कर धनज्जय (निवात कवचों) का संहार किया था।[6]

आसन –

नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में आसन गुण की परिभाषा करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है कि युद्ध के कारण शत्रु और जयशील की परस्पर सामर्थ्य नष्ट होती है तो उसको नष्ट न करके मौन बैठ रहना आसन कहलाता है।[7]

मनु का मत है कि इसी समय अथवा परिस्थिति की प्रतीक्षा में मौन बैठे रहना आसन कहलाता है।[8]

---

1. कामन्दक नीतिः सर्ग 11, श्लोक 2
2. नीतिमयूख : पृष्ठ 65
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 65
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 65
5. नीतिमयूख : पृष्ठ 65
6. नीतिमयूख : पृष्ठ 65–66
7. नीतिमयूख : पृष्ठ 66
8. नीतिमयूख : पृष्ठ 66

किसी समय की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठे रहने को कोटिल्य ने आसन गुण की संख्या दी हैं इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर आसन गुण की व्याख्या करते हुए कहा है कि अपनी वृद्धि हेतु चुपचाप बैठे रहना भी आसन कहलाता है।[1]

किसी राजा द्वारा उसके शत्रु की उपेक्षा किए जाने को चण्डेश्वर ने आसन गुण कहा है।[2]

आसन के भेद– नीलकण्ठ भट्ट ने आसन गुण के दो भेद बताए हैं। 1. विग्रह आसन, 2. संधाया आसन।

विगह्यासन : जिस समय दुर्ग में स्थित हुआ शत्रु ग्रहण न किया जाय तो विग्रह कर उसके विरूद्ध युद्ध के लिए तैयार रहना चाहिए। तैयार रहने को विग्रह्यासन कहा जाता है।[3]

सन्ध्यासान– जब विजयाभिलाषी राजा और उसका शत्रु राजा दोनों में युद्ध में हीन (क्षीण) हो जाए तो ऐसी परिस्थिति में उन दोनों के मौन बैठे रहने को सन्ध्यासान के नाम से संबोधित किया गया है।[4]

मनु भी आसन गुण के दो प्रकार के मानते हैं। आसन का प्रथम प्रकार उसे बतलाया गया है। जबकि राजा अपने पूर्व कर्म के कारण क्षीण होकर चुपचाप बैठा रहता है और दूसरा प्रकार मित्र के अनुरोध से राजा का मौन बैठे रहना है।[5]

कौटिल्य में विग्रहयासन और सन्धयाय आसन के दो भेद बताये है कामन्दक महोदय ने आसन के पाँच भेद बताये है कामन्दक महोदय के आसन के पाँच भेद – विग्रहयासन, सम्भूयासन, प्रसंग आसन, सन्ध्यासन और उपेक्षासन बताये है।[6]

आसनकाल–

आसनकाल अर्थात् राजा को जिस समय आसन गुण का आश्रय लेना चाहिए का वर्णन करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि सभी जगह देश और समय के अनुरोध पर आसन गुण का अवलम्बन करना चाहिए।[7]

मनु आसन ग्रहण करने की परिस्थिति का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि जब राजा अपनी सेना एवं वाहन से क्षीण हो जाय तब धीरे धीरे प्रयत्नपूर्वक शत्रु को शान्त करता हुआ, आसन गुण को ग्रहण करे।[8]

---

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र : वार्ता 5–8, अ0 1, अधि0 7
2. चण्डेश्वर राजनीत रत्नाकर
3. नीतिमयूख : पृष्ठ 66
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 66
5. मनुः मानव धर्मशास्त्र 166/7
6. डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, पृष्ठ 142
7. नीतिमयूख : पृष्ठ 66
8. डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, पृष्ठ 59

द्वैधीभाव –

नीलकण्ठ ने द्वैधी भाव को षाड्गुण्य मंत्र का एक गुण माना हैं अतः द्वैधीभाव गुण की परिभाषा करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि राजा शत्रुओं के मध्य काक (कौआ) नेत्र के समान कभी किसी ओर कभी किसी ओर देखता हुआ द्वैधीभाव बरते जिससे कि किसी को प्रतीत न हो।[1]

मनु ने द्वैधीभाव गुण की परिभाषा करते हुए बताया है कि अर्थसिद्धि के लिए सेना के कुछ अंश को किसी स्थान पर सेनापति के अधीन स्थापित कर स्वयं अन्यत्र वास करना द्वैध गुण कहलाता हैं अर्थात किसी से विग्रह और किसी से मेल करना द्वेध कहलाता हैं।[2]

कौटिल्य ने एक राजा से संधि करने और दूसरे राजा से विग्रह करने की परिस्थिति को द्वैधीभाव बताया है।[3]

कामन्दक ने द्वैधीभाव गुण उस परिस्थिति को माना है जिसमें राजा शत्रुओं के मध्य वाणी द्वारा आत्मसमर्पण करता हुआ काक के नेत्र के समान कभी किसी और कभी किसी ओर कभी किसी ओर देखने की वृत्ति धारण करता है और उनमें किसी का भी विश्वास नहीं करता है।[4]

यदि किसी राजा के दो शत्रु हों और वह समझता हो कि एक शत्रु के साथ संधि कर उसकी सहायता से वह दूसरे शत्रु का दमन करने में समर्थ हो सकेगा। तो ऐसी परिस्थिति में एक राजा से संधि और दूसरे से विग्रह की जो स्थिति होती हैं सोमदेव ने उसे द्वैधीभाव माना हैं इस परिस्थिति में राजा को अपने दोनों शत्रुओं से एक ही साथ युद्ध नहीं करना पड़ता। और इस प्रकार शत्रु के दमन हेतु उसकी शक्ति की वृद्धि हो जाती है।[5]

द्वेधीभाव के भेद– नीलकण्ठ भट्ट ने स्वतंत्र और परितंत्र दो प्रकार का द्वेधीभाव कहा है।[6]

स्वतंत्र द्वेधीभाव – नीलकण्ठ भट्ट ने अपने अधीन द्वेधीभाव को स्वतंत्र भाव माना हैं।[7]

---

1. नीतिमयूख : पृष्ठ 66
2. मनु : मानवधर्मशास्त्र 167/7
3. कौटिलीय अर्थशास्त्र : वार्ता 11, अ0 2, अधिकरण 7
4. कामन्दक नीति : सर्ग 11, श्लो 24
5. नीतिवाक्यामृतः वार्ता 48, समुद्देशम 29
6. नीतिमयूख : पृष्ठ 66
7. नीतिमयूख : पृष्ठ 66

2. परतंत्र द्वेधीभाव :

नीलकण्ठ भट्ट ने दूसरे के आश्रय को देखना परतंत्र द्वेधीभाव माना है।[1]

आचार्य मनु ने भी द्वैध गुण को भी दो प्रकार का माना हैं [2]

कामन्दक ने भी द्वैधीभाव गुण के दो भेद स्वतंत्र और परतंत्र बताए हैं।

3.आश्रय -

नीलकण्ठ भट्ट ने आश्रय को भी षाड्गुण्य मंत्र का एक अंग माना है आश्रय गुण की व्याख्या (परिभाषा करते) हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जब शत्रु उच्छेद करने को उद्घृत (तैयार) हो और प्रतीकार का कोई उपाय न हो तो कुल में वृत्त शील, बलवान आर्यपुरुष का आश्रय करें। फल प्राप्ति के लिए बुद्धिमान बुद्धि से विचार कर कार्यारम्भ करना नीलकण्ठ के अनुसार आश्रय गुण को प्राप्त होना है।[4] मनु और कौटिल्य ने आश्रय गुण को संश्रय के नाम से संबोधित किया है अपने शत्रु अथवा अन्य किसी बलवान राजा के प्रति आत्मसमर्पण कर देना संश्रय गुण कहलाता है। कौटिल्य का मत है कि जब राजा अपनी ऐसी परिस्थिति देखता है तो वह शत्रु के कार्यों में हानि पहुंचाने में असमर्थ हैं और अपने कार्यों के सम्पादन में भी असमर्थ है तो उस राजा को किसी दूसरे बलवान राजा का आश्रय ले लेना चाहिए।[5]

सोमदेव सूरि ने षाड्गुण्य मंत्र के छटे (आखिरी) गुण के आश्रय के स्थान पर संश्रय को स्वीकार किया है। उन्होंने संश्रय गुण की व्याख्या करते हुए कहा है कि शत्रु का विजीगीषु अथवा अन्य किसी बलवान राजा के प्रति आत्मसमर्पण करना संश्रय गुण कहा जाता हैं।[6]

निर्बल राजा का प्रबल राजा की शरण लेना राजनीति निबन्धकार चण्डेश्वर के मतानुसार संश्रय गुण को प्राप्त होना हैं[7]

---

1. नीतिमयूख पृष्ठ 66
2. डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, पृष्ठ 59
3. कामन्दक नीतिः सर्ग 11, श्लोक 27
4. नीतिमयूख : पृष्ठ 66
5. कौटिलीय अर्थशास्त्र : वार्ता 60–61, अ0 1 अधि0 7
6. नीतिवाक्यामृतः वार्ता 47, समु0 29
7. चण्डेश्वर :राजनीति रत्नाकर

उपाय -चतुष्टय

प्राचीन भारत में राजशास्त्र के आचार्यों ने राजाओं की सफलता हेतु चार उपायों का विधान किया है। मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट भी प्राचीन भारत की इस परम्परा के अनुसार षाड्गुण्य मंत्र की सफलता का साधन इन्हीं चार उपायों को मानते हैं। ये चार उपाय साम (प्रिय भाषण) दान (स्वर्ण आदि उपहार देना) भेद (फूट डालना) और दण्ड (धनापहरण और बध आदि कर्म) ये चार उपाय हैं।[1]

मनु ने भी इस राज्य की मंडल की प्रकृतियों के प्रति विजयाभिलाषी राजा को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, इस विषय में मनु चार उपाय और षाड्गण्य नीति का आश्रय लेना उचित समझते हैं। ये चार उपाय साम आदि बतलाए गए हैं।[2]

मनु और कौटिल्य के अनुसार ये चार उपाय साम, क्षम, दण्ड और भेद आदि बतलाए गए हैं। कामन्दक ने सात उपाय माने हैं। कामन्दक के अनुसार ये सात उपाय सत्य, क्षम, भेद, दण्ड, माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल है।[3]

आचार्य शुक्र ने भी यह चार उपाय, साम, दान, दण्ड और भेद माने हैं।[4] शुक्र ने उपायों की व्याख्या इस प्रकार की हैं लोहा अतिकठोर होता है परन्तु वह भी उपाय से पिघल जाता है।[5] संसार में प्रसिद्ध है कि पानी अग्नि को बुझा देता हैं परन्तु उपाय से काम लिया जाय तो अग्नि समस्त जल को सुखा देता है।[6] मदोन्मत हाथियों के सिर पर उपाय द्वारा ही पैर रखा जाता है।[7]

इन उपायों के उचित प्रयोग के विषय में नीलकण्ठ ने इस प्रकार उल्लेख किया है इनका उचित रूप से (देशभक्त आदि के अनुसार) प्रयोग करने पर सफलता मिलती हैं और इनमें से कोई उपाय न चलने पर ही दण्ड का आश्रय लिया जाता है।[8]

---

1. नीतिमयूखः पृष्ठ 68
2. मानव धर्मशास्त्र : 176/7 कौटिलीय अर्थशास्त्र, वार्ता 4, अध्याय 3, अधि0 9
3. कामन्दक नीति सर्ग 17, श्लोक 3
4. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता : डॉ0 याम सुन्दर लाल पाण्डेय, पृष्ठ 266
5. शुक्रनीति, अध्याय 4, श्लोक 1126
6. शुक्रनीति, अध्याय 4, श्लोक 1126
7. शुक्रनीति, अध्याय 4, श्लोक 1128
8. नीतिमयूख : पृष्ठ 68

षष्टम अध्याय

–व्यवहार शब्द का अर्थ

– ऋण (कर्ज)

–दत्तक पुत्र

– स्तेय (चोरी)

–साहस

–स्त्री संग्रहण (व्यभिचार)

–द्यूत समाह्वय

– साक्षी (गवाह)

षष्टम अध्याय

नीलकण्ठ भट्ट के विधि एवं न्याय संबंधी विचार

व्यवहार शब्द का अर्थ –

धर्मसूत्र महाभारत आदि व्यवहारिक ग्रंथों में व्यवहार शब्द विभिन्न प्रकार से उल्लिखित किया गया है। सामान्यतया व्यवहार शब्द मुकद्मा अथवा कचहरी में गए हुए झगड़े एवं न्याय संबंधी विधि ा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

महाभारत में व्यवहार शब्द का एक अर्थ लेन –देन है।[1] द्वितीय अर्थ झगड़ा अथवा मुकद्मा है।[2] तृतीय अर्थ किसी विषय को तय (निश्चित) करने का साधन है।[3]

अमर कोषागार के अनुसार विवादों व्यवहारः स्यात । अर्थत विवाद का नाम ही व्यवहार है। 4

हेमचन्द्राचार्य ने व्यवहार शब्द को – स्थिति, पण, एवं द्रुमेद के अर्थ में बतलाया है।[5]

धर्मशास्त्रकार वृहस्पति ने व्यवहार की परिभाषा करते हुए कहा है कि जिसमें देश, स्थिति और अनुमान का अनुसरण करते हुए लोगों (व्यक्तियों) का मत लेकर निश्चित किया जाता है, उसे ही व्यवहार करते हैं।[6]

गन्वर्थमुक्तावलीकार कुल्लूक भट्ट ने व्यवहार की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'अर्थी प्रत्यर्क्षी जनों के वाक्य जनित संदेह का हरण करने वाले विचार ही व्यवहार हैं।

---

1. महाभारत : उद्योगपर्व 37/30
2. महाभारत : शान्तिपर्व 69/28
3. महाभारत : शान्तिपर्व 69/28
4. अमरकोस (अमरसिंह) : 1/9
5. हेमचन्द्रानुंशासन : व्यवहार स्थितो पाणे द्रुमेदे।
6. नामदार मण्डलिक का हिन्दू धर्मशास्त्र : पृष्ठ 14
7. मन्वर्थ मुक्तावली : 8/1

धर्मशास्त्रकार कात्यायन ने व्यवहार की दो परिभाषाएं दी हैं, इनमें से एक व्युत्पत्ति के आधार पर है जो विधि की ओर विशेष रूप से संकेत करती है। और दूसरी परिभाषा परम्परा के आधार पर झगड़े अथवा मुकद्दमों अथवा विवादों से सम्बन्ध रखती है।1

मनु ने अष्टादश व्यवहार पदों का परिगणन कर व्यवहार पद विषयक पर विस्तृत चर्चा की है।[2]

झावल्क्य ने भी व्यवहार पद को परिभाषित न करके मनु की भांति ही व्यवहार पदों का सीधे निरूपण प्रारंभ कर दिया है। लेकिन याज्ञवल्क्य ने मनु के मुकाबले पदों की संख्या नाम, और निरूपण क्रम में अन्तर किया है।[3]

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने व्यवहार मयूख में व्यवहार पद को परिभाषित करते हुए कहा है कि आपस में झगड़ा कर रहे दोनों पक्षधरों में से अन्याय करने वाला कौन है (अर्थात एक के साथ दूसरा अन्याय करने वाला कौन है) यह ज्ञात नहीं है, तब उस अन्याय का निश्चय कर सकने योग्य जो उपाय (साधन) है उसे व्यवहार कहते हैं।[4]

जिसमें उपभोग और साक्षी प्रमाण होते हैं, ऐसा वादी –प्रतिवादी में उत्पन्न हुआ विवाद (विरोध) अथवा परस्पर प्रतिकूल किए गए आरोप–प्रत्यारोपा का निश्चिय कर सकने के लिए जो उपाय रुप साधन हैं उसे ही मयूखाकार व्यवहार कहते हैं।[5]

ऋण कर्ज –

व्यवहारशास्त्र में ऋण (कर्ज) शब्द का अर्थ प्रत्यावर्तन करने के करार (अनुबन्ध) के साथ दिया हआ धन अथवा वस्तु है।[6]

ऋण (कर्ज) का लेन देन दो पक्षों के बीच सम्पन्न होता हैं ऋण दाता को उत्तमर्ण तथा ऋण लेने वाले को अधमर्ण कहा जाता हैं[7] दूसरे अर्थ में इनको ऋणकों (ऋण लेने वाला) तथा

---

1. अपदार्क, देवणभट्ट तथा वीरमित्र द्वारा उदघृत
2. मनुस्मृति : 8/4–7
3. याज्ञवल्क्य स्मृति : व्यवहाराध्याय
4. व्यवहार मयूख : पृष्ठ ।
5. व्यवहार मयूख: पृष्ठ 50
6. विवादरत्नाकर : पृष्ठ 50
7. अमर कोश : 2/9/890

धनको (धन देने वाला) भी कहा जाता हैं ऋणादान के अन्तर्गत ऋण देना, ऋण लेना और ऋण को पुनः वापस वसूल करना आता है।

व्यवहार मयूख में आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने भी ऋणादान प्रकरण में ऋण के लेन–देन व चुकाने के संबंध में वार्हस्पत्य के विचारों को उद्घृत करे कहा है कि, धनी के द्वारा ऋणी को दिए गए धन की पुनः प्राप्ति हेतु जो व्यवस्था करनी चाहिए वह इस प्रकार है– धनी द्वारा जो कर्ज (ऋणदान) दिया जाता है, वह सदा देय ऋण की धन की उपेक्षा अधिक मूल्य का धरोहर (तरण) लेकर ही दिया जाना चाहिए। उचित अनुबन्ध जो ऋणको से स्वीकार कराकर प्रतिभू (गारन्टी) लेकर लेख लिखवाकर, अथवा किसी साक्षी के समक्ष धनको द्वारा ऋणको को धन दिया जाना चाहिए।[1]

इसी संबंध में देवण भट्ट ने कहा है कि ऋण दी जाने वाली धनराशि में व्याज जोड़ने पर भी गिरवी रखे जाने वाली वस्तु का मूल्य पर्याप्त (अधिक होना चाहिए)[2]

मिताक्षराकर ने इस विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि बन्धक अथवा ऋणकों के द्वारा धनकों के पास प्रदत्त्त धन व्याज सहित बन्धक रखी गई वस्तु के कारण लौट आएगा।[3]

स्मृतिकार वृहस्पति के अनुसार ऋणकों से उचित अनुबन्ध करना भी जरूर है जैसे –ऋणकों की जमानत लेना, लेख लिखना अथवा ऋण का लेन देन साक्षी के समक्ष होना चाहिए। बन्धक रखे गए गृह – भूमि एवं क्षेत्रादिक में (ऋणकों) किसी को ऋण चुकाने से पूर्व दान पुरुस्कार नहीं करूंगा।[4]

लग्नक की शब्द व्याख्या करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि लग्नक प्रतिभू (गारन्टी) जमानत।[5]

ब्याज – जब ऋणको ऋण लिए हुए धन को निश्चित समय तक भुगतान नहीं करता है, तो धनको दिए गए मूलधन से ज्यादा धन वसूल करता है। अतः मूलधन से अधिक वसूल किया गया धन कुशीद अथवा ब्याज कहलाता है। जो ऋण (वृद्धि के द्वारा) चार गुना अथवा आठ गुना बढ़े उसे वृहस्पति ने कुशीद कहा है।[6]

---

1. व्यवहार मयूखः पृष्ठ 104
2. स्मृति चन्द्रिका : 4–1
3. मिताक्षरा – याज्ञ 0 2/57
4. वृहस्पति : व्यवहार मयूख पृष्ठ 104
5. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 104
6. मनु : 1/90, 8/410, 8/151, याज्ञवल्क्य 1/119

वृहस्पति इस प्रकार के ब्याज को कुसीद का कारण भी बतलाते हैं। यह कुत्सित और सीदक व्यक्ति से वह निशंक होकर लिया जाता है।

कात्यायन के मत को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि ऋणकों के द्वारा संकटकाल में अधिक ब्याज का दर स्वीकार किया हो, वह उसे सदा देना चाहिए, उस ब्याज कीदर को कारिता (निश्चित किया हुआ दर) कहा जाता है।[1]

इसी विषय में मित्र मिश्र का कहना है कि जब समय समय पर ब्याज का भुगतान होता है तो वह शिखा वृद्धि (धीरे धीरे बढ़ने वाला) ब्याज कहलाता है।[2]

बन्धक – नीलकण्ठ भट्ट ने याज्ञवल्क्य के मत को उदघृत कर कहा है कि बन्धक दो प्रकार का होता है।

1. साधिपत्य बन्धक – इसमें चल अथवा अचल सम्पत्ति महाजन के आधिपत्य में होती है।

2. आधिपत्य रहित बन्धक – इस प्रकार के बन्धक में अचल सम्पत्ति महाजन के कब्जे में न होकर ऋणी (कर्जदार) के ही आधिपत्य में रहती है।

सामान्यतया ब्याज की दर बन्धक के प्रहार पर निर्भर करती है।

याज्ञवल्क्य के समान ही दोनों प्रकार के बन्धकों की ब्याज की दर के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जब ऋण के बदले में तारण (धरोहर) धनको के अधीन कर दिया हो, तो मूलधन पर सवा रुपया सैकड़ा की दर से धनको द्वारा ऋणकों से ब्याज लेना न्याय संगत है। तारण के अभाव में धनको, ऋणको से 2, 3, 4 तथा 5 प्रतिशत की दर से ब्याज ले सकता है।[3]

व्यवहारमयूख में इसी प्रकरण में अन्यथा शब्द की व्याख्या करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि तारण अर्थात वह वस्तु जो धनको को विश्वास प्रदान करने के लिए बन्धक (धरोहर) रूप में रखी जाती है। जिससे साहूकार अपना दिया हुआ धन ब्याज सहित वसूल कर सकता है।

व्यास के मत को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जब तारण (धरोहर) दिया हुआ हो तो अस्सी वॉ भाग प्रतिशत प्रतिमास की ब्याज की दर है। सप्राति भूतिक ऋण पर सॉठवां

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 104
2. मित्र मिश्र : पृष्ठ 1, प्रत्र 91
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 104

भाग तथा अप्रातिभूतिक ऋण पर दो प्रतिशत प्रतिमास धन ब्याज के रूप में लेना न्याय संगत है।[1]

नीलकण्ठ भट्ट ने व्यास के मत को उद्घृत करते हुए धरोहर रखकर व जमानत लेकर दिए जाने वाले ऋणों की ब्याज की दरों में अन्तर का उल्लेख करते हुए कहा है कि जमानतदार की अपेक्षा धरोहर अधिक विश्वसनीय होने से उस पर ब्याज की दर न्यून होनी चाहिए।[2]

इसी सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य के मत को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि दुर्गम जंगलों में प्रवास करने वाला ऋणकों 10 प्रतिशत तथा समुद्रयात्री ऋणको 20 प्रतिशत ब्याज दें।[3]

इसी प्रकरण में वीरमित्रोदयकार (मित्रमिश्र) ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि सभी वर्ण के लोगों को किसी भी वर्ण के धन को जिस दर से ब्याज देना तय (करार) हुआ है उसी भाव से अपना अपना ब्याज अदा करना चाहिए।[4]

ब्याज (वृद्धि) की देयादेयता -

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने ब्याज (वृद्धि) की देयादेयता के संबंध में धर्मसूत्र कार विष्णु के विचारों को निरूपित (उद्घृत) करते हुएं कहा है कि 'मैं कल धन वापस कर दूंगा ऐसा तय होने पर यदि कोई ऋणको धन उधार लेकर लोभ वश पूर्व में निर्धारित समय पर उधार लिया हुआ धन वापस नहीं करता है तो धन ऋण की तिथि से वह (ऋणको) व्यक्ति ब्याज (वृद्धि) को देने का अधिकारी होता है। निश्चित अवधि में लौटाने पर ब्याज (वृद्धि) अदेय होती है, क्योंकि पूर्व में ऋणकों और धनको के बीच ऐसा कोई करार (तय) नही हुआ था।[5]

पुनः कात्यायन के मत को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि याचना कर तथा उधार धन मांगकर यदि कोई व्यक्ति तय (ठहराव) के अनुसार उस धन को बिना अदा किए ही देशान्तर में प्रस्थान करता है तो एक वर्ष पश्चात् उस धन पर ब्याज देना चाहिए।[6] तथा स्वदेश में रहकर जो ऋणकों धनको के द्वारा दिए हुए ऋण (कर्ज) की मांग करने पर धन वापस नहीं करता , तथा ब्याज देने का अनुबन्ध (करार) भी न हुआ हो और उसे (ब्याज लेने से) वह कितना ही अप्रसन्न क्यों न हो तब भी एक वर्ष पश्चात उससे ब्याज दिलवाना चाहिए।[7]

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 104
2. व्यवहार मयूखः पृष्ठ 104
3. व्यवहार मयूखः पृष्ठ 104
4. मित्र मिश्र (वीर मित्रोदय) : पत्र 91, पृष्ठ 2
5. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 104
6. व्यवहार मयूखः पृष्ठ 104
7. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 104

नारद को दृष्टिान्तित करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि प्रीतिदत्त (मित्रतावश) उधार लिए हुए धन पर यदि ब्याज देने का अनुबन्ध (तय) नहो तो ब्याज नहीं देना चाहिए। तथा अनुबन्ध ा के न होने पर भी ऋण उधार लेने की तिथि से छः माह पश्चात ब्याज प्रारंभ होगा।[1] अर्थात प्रीतिदत्त (मित्रतावश) लिए गए उधार कर्ज (धन) पर ब्याज देने का तय (करार) न भी होने पर उस ऋण लिए गए धन पर छः माह पश्चात ब्याज लगााना ही न्यायसंगत है।

कात्यायन के मत को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि धरोहर के रूप में रखा धन, अवशिष्ट (शेष) ब्याज, खरीदी व बेंची गई वस्तु की कीमत मांगने पर, चुका न सकने की दशा में भी पांच प्रतिशत (5 प्रतिशत) प्रतिमाह की दर से ब्याज देय होगा।[2]

नारदीय मत को स्वीकार करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि अग्रलिखित वस्तुओं पर स्वतंत्र अनुबन्ध के बिना ब्याज नहीं लगता है। विक्रय की हुई वस्तु के मूल्य पर, दैनिक वेतन, गिरवी (धरोहर) के रूप में रखा गया धन, किसी मनुष्य को दण्ड के रूप में निश्चित किया हुआ धन, अयोग्यदान तथा जुआ में जीती हुई वस्तु पर ब्याज वृद्धि अदेय होती है।[3]

ऋण रूप में लिया हुआ धन ऋणको द्वारा वापस करते समयं जब धन को वापस नहीं लेता है तथा वह रकम ऋण को द्वारा किसी विश्वासपात्र मध्यस्थ के पास धरोहर के रूप में जमा कर दी गई हो। उस स्थिति में उस रकम पर ब्याज नहीं लगेगा।[4]

लेकिन ऋणको के पास ही उस रकम (धन) के रखे रहने की स्थिति में ब्याज लगेगा। ब्याज वृद्धि की चरम सीमा के विषय में वृहस्पति के मत को उद्घृत करते हुए कहा है कि स्वर्ण धरोहर के रूप में रखकर लिए हुए ऋण की रकम वृद्धि से दो गुनी हो सकती है। वस्त्रों तथा हीन वस्तुओं पर तीन गुनी अनाज पर चार गुनी, फल शाक सब्जी आदि से निर्मित पदार्थों बोझ ले जाने वाले पशुओं पर, ऊन पर केशों पर ब्याज वृद्धि मूल धन से पांच गुनी अधिक किसी भी अवस्था में नही होगी।[5]

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 105
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 105
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 105
4. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 105
5. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 105

मनुस्मृति को उद्घृत कर व्यवहार मयूख में नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि अनाज, पुष्प, फूल तथा फल, ऊन, चमरी आदि के केशों व भार ले जाने वाले पशुओं पर लिए गए ऋण पर ब्याज की वृद्धि किसी भी दशा में (मूलधन 'प्लस' ब्याज) छः गुने से अधिक नहीं होगी, कम कितनी हो सकती है।[1] नीलकण्ठ का कहना है कि मनु का यह वचन वृद्धि की षाड्गुण्यता का निषेध परक है।

वशिष्ठ के मत को उद्घृत करते हुए नीकलण्ठ भट्ट ने कहा है कि पीतल, कांसा, तांबा, लोहा, रॉग और शीशा आदि इन बस्तुओं में से किसी भी धातु को बन्धक रखकर किए गए ऋण की वृद्धि बहुत दिन बीत जाने पर भी मूलधन की तीन गुनी अधिक हो सकती है।[2]

कात्यायन के मत के आधार पर नीकण्ठ भट्ट ने कहा है कि सभी प्रकार के तेलों, खाद्यपदार्थों, घी, गुड़, तथा नमक आदि पदार्थों पर ब्याज मूलधन का आठ गुना तक लिया जा सकता है।[3]

अन्त में विष्णु के मत को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि स्वर्ण संबंधी वृद्धि मूलधन की दोगुनी, वस्त्रों पर तीन गुनी, अनाज पर चार गुनी, रस पदार्थों पर आठ गुनी, ली जा सकती है। स्त्रियों (दासी इत्यादि) पर व पशुओं पर वृद्धि के रूप में उनकी सन्तति लेनी चाहिए जो वस्तुएं तौलकर बेंची जाती हैं जैसे फल फूल, कन्द मूल आदि उन पर आठ गुनी वृद्धि लेनी चाहिए।[4]

कर्ज (ऋण) की वसूली – मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने व्यवहार मयूख में कात्यायन मत को उद्घृत करके ऋण (कर्ज) की वसूली हेतु सामादि उपायों का उल्लेख करते हुए कहा है कि धनीराजा स्वामी अथवा ब्राह्मण से ऋण वसूल करने हेतु सामोपाय का ही प्रयोग करें। तथा मित्र (स्नेही) और दायादों से कर्ज की वसूली के लिए छद्म का प्रयोग करें।[5]

नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि व्यवहार शास्त्र में ब्याज वृद्धि की सीमा निर्धारित की है उसी आधार पर मूलधन की वृद्धि के द्वारा होने वाली वृद्धि, रूकने का समय उपस्थित होने पर धनको

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 105
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 106
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 106
4. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 106
5. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 111

ऋण वसूल कर ले, या यक्रवृद्धि ब्याज का दूसरा इकरारनामा (अनुबन्ध पत्र) ऋणको से करा ले।[1]

नारदीय मत को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि यदि समय (काल) की विपरीततावश अर्थात ऋणी पर बुरे दिन आ जाने के कारण, या ऋणी में वापस करने की सामर्थ्य न हो तो ऋणी की आर्थिक दशा में जैसे जैसे सुधा हो उसी रूप में समय समय पर उससे आंशिक ऋण किस्त के रूप में ग्रहण कर ऋणको को ऋण वापस करने का अवसर दिया जाय। अर्थात ऋणी को सम्पूर्ण धन एकसाथ वापस लौटाने के लिए बाध्य न किया जाए।[2]

याज्ञवल्क्य मत को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा यदि एक ही व्यक्ति पर एक ही समय में, ऋण (कर्ज) की अदायगी की जानी चाहिए। धनको ऋणको द्वारा वापिस किए धन को ऋण पत्र पर यथाक्रम से लिखे ऋणको को अलग अलग प्राप्ति रसीद प्रदान करे। तथा ब्याज सहित सम्पूर्ण ऋण जब चुका दिया जाय तो ऋण पत्र को नष्ट कर देना चाहिए (फाड़ देना चाहिए)।[3]

नारदीय मत के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि प्रमाणों से प्रमाणित हुआ पिता द्वारा लिए गए ऋण की अदायगी पुत्र के द्वारा लिए गए ऋण की भांति ही करें। पितामह के द्वारा लिए गए ऋण का केवल मूलधन पौत्र अदा करें। तथा प्रपात्र का ऋण अदा करने का दायित्व नहीं है।[5]

इसी संदर्भ में पुनः नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि ऋणी की अदायगी के लिए पुत्र –पौत्रों की वयस्कता (वालिग) आवश्यक है। अवयस्क (नावालिग) पुत्र–पौत्रों से कर्ज अदा करने के लिए निषेध कहा गया है।[6]

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 111
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 112
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 113
4. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 114
5. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 114
6. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 114

अदेय ऋण –

याज्ञवल्कीय मत के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि मद्यपान, वैश्यागमन, धूतकर्म, दण्ड, अथवा शुल्क कर का देय शेषांक व पिता के ,ारा किया गया व्यक्तिगण ऋण को पुत्र को नहीं चुकाना चाहिए।[1]

इसी संदर्भ में वृहस्पति मत के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि वह काम , क्रोध के वशीभूत होकर किसी को धन देने की प्रतिज्ञा की गई तो वह धन व्यवहार (ऋण) भी अदेय होता है।[2]

मुख्य कर्ज अदाकर्ता : –

याज्ञवल्क्य को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ ने कहा है कि रिक्त ग्राह मृत्यु के बाद मृतक की सम्पत्ति को लेने वाले से मृतक का कर्जा अदा करवाना चाहिए।

योषिद्ग्राह (मृतक की पत्नी से सुखोपभोग करने वाले) से मृतक का कर्ज अदा कराना चाहिए। क्योंकि स्त्री को पुरुष की सम्पत्ति माना है इसलिए जो स्त्री कर्ता है, उसे उस स्त्री के पूर्व पति का ऋण चुकाना चाहिए। इन दोनों के अभाव में जिसके माता पिता से संबंधित द्रव्य किसी अन्य के आश्रय के कारण नष्ट हो गया है तो ऐसे पुत्र को पुत्रहीन स्त्री का कर्ज चुकाना चाहिए।[3]

मृतक के ऋण को भुगतान का क्रम–

मृतक के ऋण को अदा किस क्रम से किया जाय के संबंध में कात्यायन का उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि किसी रोग विकार आदि से रहित लेकिन पुत्र हो तो, पिता का ऋण पुत्र से अदा कराया जाए। तथा ऐसा पुत्र न हो तो नहीं दिलवाना चाहिए। और रिक्थहारी से पहले मृतक के ऋण का शोधन करवाना चाहिए। तब रिक्थहारी के पश्चात पुत्र से ऋण का भुगतान करवाना चाहिए। पुत्र न हो, और हो भी तो वह निर्धन हो तो ऐसी स्थिति में मृतक की स्त्री का जो ग्रहणकर्ता हो, उससे मृतक के ऋण का भुगतान करवाना चाहिए। तथा द्रव्यहारी और स्त्री हारी दोनों के न होने पर विपदाग्रस्त पुत्र ही ऋण को अदा करने के लिए उत्तरदायी होता है।[4]

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 115
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 115
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 115
4. व्यवहार मयूख : 116

नारदीय वचनों को दृष्टान्तित कर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि मृतक व्यक्ति की स्त्री अपनी पैत्रिक सम्पत्ति तथा अपने बच्चों को लेकर यदि किसी असंबंधी व्यक्ति का आश्रय लेती है, तो ऐसी दशा में उस स्त्री को आश्रय देने वाला व्यक्ति ही उस स्त्री के मृतक पति के कर्ज को अदा करने का उत्तरदायी होगा। अन्यथा आश्रय में आयी हुई उस स्त्री को उसी प्रकार (जैसे कि वह सापत्य व पैत्रिक सम्पत्ति के साथ वह आयी थी) अपने से अलग कर दें।[1] कात्ययन को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि निःसंतान अघन मद्यापी आदि व्यक्तियों के मरने के उपरांत उनके द्वारा किए गए ऋण का उत्तरदायित्व उनकी स्त्रियों का उपभोग कने वालों पर होता है।[2]

कात्यायन के मत के आधार पर पुनः नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि पालन पोषण करने वाले व्यक्ति की सम्पत्ति के लिए बिना भी कुटुम्ब के भरण पोषण के लिए नौकर, पत्नी, माता–पुत्र एवं शिष्य के द्वारा लिया गया ऋण कुटुम्बी (कुटुम्ब का स्वामी जो परदेश में चला गया था) से अदा कराना चाहिए।[3]

अनावश्यक ऋण का भुगतान –

अनावश्यक ऋण क्या है और किसे कहा जाय के संबंध में नीलकण्ठ भट्ट ने याज्ञवल्क्य के मत को उद्घृत करते हुए कहा है कि 'पतिकृत अथवा पुत्रकृत ऋण का भुगतान स्त्री अथवा माता को करना अनिवार्य नही है। कुटुम्ब के भरण पोषण से भिन्न कार्य के लिए पुत्र द्वारा लिए गए ऋण को पिता को, एवं पति द्वारा लिए गए ऋण को पत्नी को चुकाना आवश्यक नहीं है। केवल कुटुम्ब के भरण–पोषण के लिए, लिए गए ऋण को चुकाना ही अनिवार्य होता है।[4]

उक्त मत को पुनः प्रतिपादित करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जिस ऋण (कर्ज) को स्त्री के द्वारा स्वयं भुगतान करना स्वीकार किया हो, अथवा पति पत्नी दोनों ने संयुक्त रूप जो ऋण लिया हो, उस ऋण का भुगतान स्त्री को ही करना चाहिए, इनके अलावा किसी अन्य प्रकार के ऋण का भुगतान नहीं। इन ऋणों के अलावा सभी ऋणों का भार पति पर ही होता है। और पति द्वारा लिए गए ऋण का भुगतान स्त्री न करे, यह इस नियम (वचन) की अपवाद है।[5]

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 116
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 116
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 116
4. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 116
5. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 711

मरणासन्न पति के द्वारा यदि पत्नी से यह कह दिया जाय कि तू मेरा यह अमुक ऋण चुका देना तो वह ऋण पत्नी को चुकाना चाहिए।[1]

नारदीय मत को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि यदि कोई स्त्री पुत्रवती होकर भी निर्धन है, तथा वह अपने पुत्र को छोड़कर किसी अन्य पुरुष के साथ (संरक्षण) में रह रही हो तो उसके पुत्र को उसके द्वारा किए गए (मातृकृत) सम्पूर्ण ऋण को चुकाना चाहिए।[2]

दत्तक पुत्र -

दत्तक पुत्र प्रकरण को प्राचीन भारत के सभी धर्म सूत्रकारों, स्मृतिकारों एवं मनु याज्ञवल्क्य, नारद, बैधायन, धर्मसूत्र तथा विष्णु ने अपने ग्रंथों में परिभाषित किया है।

सामान्यतया दत्तक का अर्थ है दिया हुआ। हिन्दू धर्मशास्त्र में डॉ0 पी.वी. काणे द्वारा वर्णित 12 प्रकार के पुत्रों में से दत्तक पुत्र भी एक है।[3]

दत्तक पुत्र की परिभाषा-

मनु ने दत्तक पुत्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'औरस पुत्र के अभाव में, लेकिन कृत्रिम रीति से शास्त्र वहित पद्धति द्वारा जो वारिस (उत्तराधिकारी प्राप्त किया जाता है, उसे दत्तक पुत्र कहते हैं।[4]

वशिष्ट के अनुसार -

शुक्र (बीज) और शोषित से उत्पन्न व्यक्ति अपने जन्म के कारण माता पिता का ऋणी होता है, अतः पुत्र सन्तति के अभाव में नाम चलाने के लिए और पिण्डोदयक क्रिया हेतु जो पुत्र (प्रतिनिधि) होता है वह दत्तक पुत्र कहा जाता है।[5]

इसी क्रम में उन्होंने आगे कहा कि किसी भी माता पिता को अपने पुत्र को दान करने, बेचने तथा परित्याग करने का अधिकार है। इसको अपवाद स्वरूप उन्होंने कहा है कि कोई भी व्यक्ति अपने एक मात्र पुत्र को न तो किसी अन्य को दे सकता है और न ही किसी दूसरे के एक मात्र पुत्र को ले (स्वीकार) कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक को अपना कुल चलाना आवश्यक है।

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 117
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 117
3. डॉ0 पी. वी. काणे : धर्मशास्त्र इतिहास, भाग -2, पृष्ठ 907
4. मनु 0 9/166
5. वशिष्ठ : 17/28-29

पति की आज्ञा के बिना कोई भी स्त्री किसी अन्य के पुत्र को दत्तक के रूप में न ले सकती है, और न ही दे सकती है।

जब एक माता पिता से उत्पन्न पुत्र को किसी अन्य पुत्र रहित व्यक्ति को दिया जाता हे तो वह दत्तक पुत्र कहलाता है। साधारण बोलचाल में इसको गोद का लड़का भी कहते हें।[1]

दत्तक पुत्र का अर्थ है कि जो अपना स्वयं का पुत्र नहीं है, उसे शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अपना पुत्र बनाना।[2]

दत्तक पुत्र का उद्देश्य -

सामान्यतया पुत्र गोद लेने का उद्देश्य यह है कि जलदान व पिण्डदान की क्रिया निरन्तर चलती रहे, या गोद लेने वाले व्यक्ति का नाम और कुल का क्रम पीड़ी दर पीड़ी बना रहे। नन्दपण्डित ने अपने ग्रंथ दत्तक मीमांसा में अरि और मनु का उल्लेख करके पुत्र. को गोद लेने के दो उद्देश्य बताए हैं। 1– पिण्डोदक क्रिया 2 – नाम संकीर्तन ।

अधिकांशतया पुत्र को गोद के रूप में ग्रहण करने का उद्देश्य धार्मिक होता है, लेकिन अपने पुत्र को किसी दूसरे के गोद रूप में देने वाले माता–पिता का और गोद के रूप में लिए जाने वाले व्यस्क पुत्र का उद्देश्य ज्यादातर धर्म से संबंधित नहीं होता है, वर्तमान काल में दत्तक पुत्र एवं दत्तक पुत्र देने वाले माता पिता का लक्ष्य बिना किसी प्रयास के गोद लेने वाले माता पिता की सम्पत्ति को बिना किसी प्रयास के प्राप्त करना मात्र ही होता है। इनके मन में धार्मिक भाव का अभाव पाया जाता है। इसलिए गरीब व्यक्ति को दत्तक के रूप में अपने पुत्र को देना कोई भी माता पिता स्वीकार नही करता हैं

दत्तक पुत्र लेने की अधिकारी-

मनु ने कहा है कि केवल पुत्र रहित व्यक्ति को ही सभी सम्पन्न प्रयासों से पुत्र (दत्तक पुत्र के रूप में) ग्रहण करना चाहिए जिससे कि मरणोपरांत वह (दत्तक पुत्र लेने वाला) और उसके पूर्वज अन्न (पिण्ड) और जल प्राप्त कर सके।[3]

---

1. हिन्दू लॉ : पृष्ठ 72
2. पा0 सूत्र : 5/4/5
3. मनुस्मृति कुल्लू व भट्ट की टीका प्रकाशक, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1920 ई0

भाई अपने भाई को दत्तक नहीं दे सकता है।[1]

पितामह अपने पौत्र (नाती) को गोद नही दे सकते।[2]

पति की आज्ञा व सहमति के बिना पत्नी भी पुत्र को दत्तक नहीं दे सकती है।[3]

जिन जनक जननी के पास एक ही पुत्र हो वह भी उसे गोद नहीं दे सकते हैं।[4]

मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने मनुस्मृति को उद्घृत करते हुए कहा है कि पुत्र को दान करने अर्थात गोद देने का प्रमुख अधिकार जनक एवं जननी को ही हैं 5 इसी संदर्भ में वह आगे कहते हैं कि माता पिता को अपनी जीवित अवस्था में ही अपने पुत्र को दत्तक देना चाहिए। पिता –माता की बिना सहमति के भी पुत्र को गोद दे सकता है। पत्नी को पुत्र को छोड़ देने का अधिकार पति की जीवित अवस्था में तभी है जबकि पति विदेश गया हो, सन्यास ग्रहण कर लिया हो, पागल हो गया हो, अथवा लुप्त हो गया हो।

दत्तक पुत्र होने की योग्यता –

मनु का मत है कि दत्तक पुत्र दत्तक लेने वाले का सजातीय है, यदि असंभव हो तो विजातीय को भी गोद लिया जा सकता है। सजातीय में भी सगोत्र सपिण्ड हो, यदि असंभव हो तो असपिण्ड को भी गोद लिया जा सकता है।[6]

मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने इस संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि सहोदर भाई का पुत्र सगोत्र और सपिण्ड होता है। सगोत्र का अभाव होने पर असमान गोत्रीय सपिण्ड को, अर्थात मातुल गोत्रीय सपिण्ड को, अथवा अपने गोत्रजों के सन्निकट सपिण्ड को, अथवा असमान गोत्रीय असपिण्ड को अर्थात नाना के गोत्र में असपिण्ड को दत्तक रूप में गोद लिया जा सकता है।[7]

नीलकण्ठ भट्ट ने पुनः इसी विषय में कहा है कि पुत्र को ही गोद दिया जा सकता है, पुत्री को नही।[8]

---

1. मनुस्मृति : कल्लूक भट्ट की टीका एवं व्यवहार मयूख, पृष्ठ 68
2.मनुस्मृति : कल्लूक भट्ट की टीका एवं व्यवहार मयूख, पृष्ठ 68
3.मनुस्मृति : कल्लूक भट्ट की टीका एवं व्यवहार मयूख, पृष्ठ 68
4.मनुस्मृति : कल्लूक भट्ट की टीका एवं व्यवहार मयूख, पृष्ठ 68
5. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 66
6. मनु0 : 9/168
7. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 71

अन्ततः दत्तक निरूपण के संबंध में जिन धर्मशास्त्रकारों व स्मृतिकारों ने अपने अपने विचार व्यक्त किए हैं, उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि उस स्त्री से उत्पन्न बालक दत्तक (गोद) लेने योग्य है, जिस स्त्री के साथ भोग सशास्त्र हो सकता है। गोद लिए जाने वाले बालक में पुत्र की सदृश्यता होना आवश्यक बताया है। गोद लिए जाने वाले बालक की माता के साथ गोद लेने वो व्यक्ति का सशास्त्र वैवाहिक संबंध होने पर ही, कोई बालक गोद लेने के योग्य माना जा सकता है।[1]

दत्तक किसे लिए जा सकता है-

इस विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने शैानक के वचनों को उद्घृत करते हुए कहा है कि जहां तक संभव हो कि गोद लिया जाने वाला पुत्र सगोत्रीय व सपिण्डज के अभाव मे असपिण्ड को गोद लिया जा सकता है, उसी प्रकार सगोत्रीय के अभाव में असगोत्रीय को भी गोद लिया जा सकता है।[3]

इन्होंने सहोदर भाई के पुत्र को गेद लेना श्रेष्ठ बताया है।[4]

दत्तक किसे नहीं लिया जा सकता -

प्रायः सभी स्मृतिकारों व मीमांसकारों ने निम्नलिखित को दत्तक (गोद) लिए जाने के अयोग्य (आग्राहय) बताया है।

–भांजा (बहिन का पुत्र) व धेवता (पुत्री का पुत्र)

– जो व्यक्ति शारीरिक रूप व मानसिक रूप से धार्मिक क्रियाकलाप करने में अयोग्य है।

–अधीन अवस्था वाला भिन्न गोत्रीय, जिसके चूड़ान्त संस्कारजनक कुल में ही सम्पन्न हो चुके हों, लेकिन ऐसा सगोत्रीय बालक ग्राहय कहा है।

– यदि गोद लिए जाने वाले पुत्र की अवस्था, गोद लेने वाले व्यक्ति की अवस्था से अधिक है, तो वह गोद नहीं लिया जा सकता।

– एकमात्र पुत्र का ज्येष्ठ पुत्र कभी भी गोद नहीं लिया जा सकता।

–सौतेला पुत्र भी गोद नही लिया जा सकता है।

– मां की बहिन का पुत्र भी गोद नही लिया जा सकता है।

---

1. नामदार मण्डलिक का हिन्दू लॉ, दत्तक प्रकरण धर्म सिन्धु
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 67
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 67
4. ट्रिवोलियन हिन्दू लॉ, व्यवहार मयूखः पृष्ठ 67

अनाथ बालक भी गोद रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

–भाई या सहोदर (किसी भी रिश्ते का) गोद नहीं लिया जा सकता है।

–क्रीत पुत्र

–दत्तक पुत्र को भी पुनः गोद नहीं लिया जा सकता है।

– चाचा और मामा भी दत्तक पुत्र नहीं हो सकते।

पुत्रदान और प्रतिग्रह की विधि–

शौनक मत को उद्घृत करते हुए व्यवहार मयूख में नीलकण्ठ भट्ट ने पुत्रदान और प्रतिग्रह भी विधि के संबंध में कहा है कि सभी को ज्येष्ठ पुत्र के अतिरिक्त किसी भी पुत्र को दान नहीं कर सकता और अनेक पुत्र होने पर भी ज्येष्ठ पुत्र को पिता दान नहीं कर सकता है।[1] अपने अधिकार के बिना किए गए दान को भी वह अवैध बतलाते हैं। क्योंकि पत्नी पर पति का अधिकार तो है, लेकिन सीमित अधिकार होता है। इसलिए कोई भी पति अपनी पत्नी को नही दान कर सकता है और न ही बेच सकता है। उसी प्रकार पुत्र पर भी माता पिता का अधिकार सीमित होता हैं क्योंकि माता पिता एकमात्र व ज्येष्ठ पुत्र को दान नहीं कर सकते हैं। और न ही बेचने के अधिकारी होते है। तथा मारने का अधिकार तो होता ही नहीं है।[2]

पुत्र को प्रतिग्रह करने का अधिकार किसको होता है के संबंध में नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि विवाहिता स्त्री को पति की आज्ञा से पुत्र को प्रतिग्रह करने का अधिकार है।[3]

विधवा स्त्री को पति द्वारा जीवित अवस्था में निषेध न किया गया हो तो पुत्र प्रतिग्रह के लिए अधिकार है, तथा पति के पीछे (मरने पर) पिता या परिचित संबंधियों की सहमति से पुत्र प्रतिग्रह का अधिकार है।[4] केवल शूद्र जाति में भांजे व धवेत को गोद लिया जा सकता है। अन्य जातियों में नहीं।[5] अन्य जातियों में तो निकट (पास) के सापिण्ड को ही गोद के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यदि गोद लेने वाले व्यक्ति को समीप का सपिण्ड व सगोत्रीय बालक उपलब्ध हो तो उसे ही गोद के रूप में ग्रहण करें, लेकिन निम्न जाति के व असपिण्डज को दत्तक पुत्र में ग्रहण करने का अधिकार नहीं है।[6]

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 69
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 70
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 75
4. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 70– 71
5. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 71
6. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 71

स्तेय (चोरी)-

नीलकण्ठ भट्ट के समकालीन व पूर्ववर्ती सभी धर्मशास्त्रकारों व स्मृतिकारों ने अपने अपने ग्रंथों में चोरी स्तेय नामक व्यवहारिक शब्द का निरूपण किया है। तथा सभी ने चोरी स्तेय पद की व्याख्या अलग अलग प्रकार से की है।

स्तेय (चोरी) का अर्थ -

मनु ने स्तेय (चोरी) शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि साहस कर्म के विपरीत जिससे धन के रक्षकों (स्वामी) को ज्ञात न हो, इस प्रकार रक्षकों से छिपकर जो द्रव्य हरण किया जाता है, उसे स्तेय (चोरी) कहा जाता है या धन चुराने वाला भयवश यह कहता है कि मैंने धन नहीं चुराया है, तो वह भी स्तेय है।[1]

नारद का कहना है कि विभिन्न उपायों से लोगों को छलकर उनके आलस्य या उन्मत्त अवस्था का लाभ उठाते हुए, जो धन हरण किया जाता है वह भी स्तेय (चोरी) ही है। 2

(चोरी योग्य द्रव्य) चोरी किए जाने वाले द्रव्य : –

व्यवहार मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने नारदीय वचनों को उद्घृत करते हुए चोरी किए जाने दृव्यों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है।[3]

क्षुद्र वर्ग -

इस वर्ग के अन्तर्गत मिट्टी के बर्तन, आसन, शैया, हाथी के दांत, चमड़ा तथा तृण आदि से निर्मित वस्तुएं, दलहन तथा भोज्यान्न जैसे कम मूल्य वाले पदार्थ बताए हैं।

मध्यम वर्ग– इस श्रेणी के अन्तर्गत रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के वस्त्र, गाय के अतिरिक्त सभी प्रकार के पशु, स्वर्ण के अतिरिक्त सभी प्रकार की धातुएं और चावल जैसे अन्य प्रकार के धान्य बताए हैं।

उत्तम वर्ग – इस श्रेणी में स्वर्ण, हीरा, जवाहरात, रेशमी वस्त्र, गाय, पुरूष, स्त्रियां, हाथी, घोड़ा एवं देवद्विज और राजा का द्रव्य आदि वस्तुएं उत्तम वर्ग के अन्तर्गत विक्षपित की गई हैं।

---

1. मनु0 : 8 / 322
2. नारद / साहस प्रकरण, श्लोक और 17
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 142

चोरों के प्रकार –

नीलकण्ठ भट्ट ने नारद, मनु, व याज्ञवल्क्य के वचनों के आधार पर चोरों (तस्करों) के प्रकाश और अप्रकाश दो प्रकार बताए हैं।[1]

1. नीलकण्ठ भट्ट ने प्रकाशित रूप से चोरी करने वाले चोरों के विषय में नारदीय वचनों को उद्घृत कर व्यवहार मयूख में कहा है कि व्यापारी, ढोंगी, वैद्य, उत्कोच, जीवी, सभासद, भविष्यवक्ता, ठग, वेश्या, शिल्पकार, कूटलेख निर्माता, अवैधानिक कार्यकर्ता, दलाल, असत्य साक्षी कपटपूर्ण विद्या का प्रदर्शन कर अपनी जीविका चलाने वाला आदि प्रकाशित चोर हैं।[2]

2. मनु को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि चोरी के कार्य में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों को साथ में लेकर यदि कोई व्यक्ति रात के समय छिपकर भ्रमण (घूमता फिरता) करता है, जिनका कि वास्तविक उद्देश्य ज्ञात नहीं होता है तो वह अप्रकाशित की श्रेणी में गिना जाएगा। स्मृतिकार व्यास ने उठाईगीरा में सेंध (ओड़ा) लगाने वाला, राहगीरों को लूटने वाला, जेब काटने वाला, स्त्री, पुरुष, पशु, अश्व तथा अन्य पशुओं को चुराने वाला आदि नौ प्रकार के चोर कहे हैं।[4]

चोरों के लिए दण्ड –

वृहस्पतिय वचनों के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट ने व्यवहार मयूख में चोरों के लिए दण्ड का निरूपण करते हुए कहा है कि राहजनी करने वालों के लिए गले में फंदा डालकर वृक्षों पर लटका देना चाहिए, अर्थात उसको मृत्यु दण्ड देने के लिए कहा है।[5]

मनु को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि नकाब लगाकर चोरी करने वाले चोर के लिए दण्ड करच्छेन करके तेजधार वाले शूल पर चढ़ाने को कहा है।[6] मनु ने कुलीन मनुष्यों एवं बहुमूल्य धातुओं को चोरी के लिए मृत्युदण्ड की व्यवस्था की है।[7]

नारदीय वचनों को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जिस रक्षा अधिकारी के क्षेत्र में चोरी हुई हो तो उस रक्षाधिकारी को सभी प्रयत्न करके चोरों को पकड़ना चाहिए, यदि वह चोर को पकड़ने में असफल होता है, तो उस अधिकारी से चोरी गया हुआ धन वसूल किया जाना चाहिए।[8]

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 142
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 142
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 143
4. व्यास : धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ 824
5. व्यवहार मयूख : 143
6. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 143
7. मनु : (8 / 323)
8. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 144

याज्ञवल्क्य के मत को उद्‌घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्‌ट ने कहा है कि राजा चोरों द्वारा चुराई गई सम्पत्ति के स्वामी को दिलवाए व अपराधानुसार अपराधियों को दण्ड दिलवाए।[1]

नारदीय मत के अनुसार नीलकण्ठ भट्‌ट ने कहा है कि भ्रमणशील (पलायित) चोर को अन्न तथा आश्रय देने वाले, तथा पकड़ने का सामर्थ्य होते हुए भी उन्हें न पकड़ने वाले, अर्थात जो चोरों को भाग जाने देते हें, उन सभी को उस चोरी के अपराध्ा में समान भागीदार समझकर समान दण्ड देना चाहिए।[2]

साहस –

नीलकण्ठ भट्‌ट ने नारदीय वचनों को उद्‌घृत कर व्यवहार मयूख में साहस के स्वरूप (लक्षण) के विषय में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं। जहां बल के प्रभाव में किसी पर बल प्रयोग कर जबरदस्ती से जो कार्य किया जाता है, उसे साहस कहते हैं। तथा साहस पूर्ण अपराधों के अन्तर्गत विशेष रूप से अवैध कर्मो का समावेश होता हैं जैसे लूट खसोट, डाक, घातक, घाव करना, बलात्कार और मनुष्य वध आदि।[3] नारद, मिताक्षरा, तथा वीरमित्रोदय में भी साहस के विषय में यही विचार व्यक्त किए गए हैं।[4]

साहस भेद–

वृहस्पति वचनों को उद्‌घृत कर मीमांसाकार ने साहस के भेदों का निरूपण करते हुए कहा है कि मनुष्य बध, बल प्रयोग पूर्वक अपहरण, परस्त्री से बलात् संभोग तथा दोनों प्रकार के पारूष्य ये साहस के चार भेद हैं।[5] पुनः नीलकण्ठ ने कहा है कि फलफूल, जल, कृषि संबंधी उपकरण (हल आदि) को नष्ट करना, उन्हें दूर फैंक देना, उनका उपमर्द करना, उन्हें पैरों तले कुचलना आदि कृत्यों को पूर्व साहस के अन्तर्गत माना है।[6]

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 144– 145
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 145
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 145
4. नारद (16/1) मिताक्षरा : पृष्ठ 226, वीरमित्रोदय (पृष्ठ 697)
5. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 145
6. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 145

विशेषदकर या शस्त्र अस्त्रों के प्रहार से या अन्य किसी साधन से जब किसी व्यक्ति का बध किया जाता है दूसरे की स्त्री से बलात् संभोग किया जाता है, अथवा अन्य कोई प्राणघातक कृत्य किया जाता है तो वह उत्तम साहस कहलाता है।[1]

याज्ञवल्क्य स्मृति को उद्घृत करते हुए मयूखाकार ने कहा है कि साहस करने की प्रेरणा देने वाले व्यक्ति के लिए दण्ड की व्यवस्था है साथ ही यह भी बताया है कि साहस करने वाले को दोगुना, तथा साहस कर्म के बदले में पुरुस्कार करने वाले को चौगुना दण्ड देना चाहिए।[2]

मनुस्मृति के आधार पर नीलण्ठ भट्ट ने साध्वी स्त्री के साथ बलात् संभाग (बलात्कार) करने वाले व्यक्ति को दण्ड कहा है।[3]

वृहस्पतीय वचनों को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि यदि विवाहित ब्राह्मण स्त्री से बलात् संभोग करने वाला व्यक्ति ब्राह्मण हो तो उसे एक साहस दण्ड देने के लिए कहा गया है और यही अपराध ब्राह्मण जाति से भिन्न जाति का पुरुष करता है तो उसके लिए यही दण्ड कहा है।[4]

कात्यायन वचनों के आधार पर मीमांसाकार नीलकण्ठ भट्ट का कहना है कि जिस स्त्री का उपभोग (बलपूर्वक) जबरदस्ती के साथ अन्य किसी पुरुष के द्वारा किया गया हो तो उसको घर में छिपाकर (गुप्त) रखना चाहिए। उसको सुहाग सामग्री सौन्दर्य प्रसाधन नहीं देनी चाहिए। उसे चारपाई (विस्तर) आदि पर नही सुलाना चाहिए। लेकिन जीवन यापन के लिए पर्याप्त भोजन देना चाहिए, जिससे कि वह भूखी न मरे।[5]

इसी संदर्भ में मीमांसाकार ने आगे कहा है कि यदि किसी उच्च वर्णीय स्त्री का उपभोग किसी निम्न वर्णीय पुरुष के द्वारा किया जाता है तो या तो उसका त्याग करना चाहिए। या बध। उसे (स्त्री को) बंधा अथवा त्याज्या तभी कहा गया है, जबकि संभोग में स्त्री की इच्छा हो अथवा संभोग बलपूर्वक न हुआ हो। अतः जहां की सहमति से उसका उपभोग हुआ हो, वहां इन दो प्रकार के दण्डों में से कोई भी दण्ड दिया जा सकता है। पृथक शैया च नारीणाम् शस्त्र वध ऊचतें स्त्री

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 145
2.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 148
3.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 148
4.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 148
5.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 149

सर्वथा अवध्य है, अतः उसके लिए सहशयन से वंचित करना ही पर्याप्त दण्ड है।

क्योंकि सहशयन के वंचन में त्याग और वध दोनों समाहित होते हैं। गृह निष्कासन से तो उसे व्यभिचार करने में बलपूर्वक प्रवृत्त (लिप्त) करने जैसा होगा। उसकी सहमति से लिए गए संभोग की पुनरावृत्ति न हो, इसलिए गृह निष्कासन की अपेक्षा सहशयन वंचन ही पर्याप्त दण्डनीय है।

स्त्री - संग्रहण (व्यभिचार)

स्मृतिकार मनु और याज्ञवल्क्य की भांति ही मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने भी व्यवहार मयूख में स्त्री संग्रहण नाम के व्यवहार पद का 17वें स्थान पर निरूपण किया है। वृहस्पति और कौटिल्य ने इसको संग्रहण और स्त्री संग्रहण दोनों कहा है।

सामान्यतः स्त्री संग्रहण से अभिप्राय व्यभिचार से है। स्त्री और पुरुष के मिथुनी भाव (संभोग क्रिया) को संग्रहण कहते हैं।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने स्त्री संग्रहण (व्यभिचार) का निरूपण करते हुए कहा है कि बलातपूर्वक पर स्त्री से संभोग करना साहस है। 3 साहस भी एक अपराध है, तथा अपराध के लिए दण्ड का विधान भी शास्त्रों में है।[4]

मयूखाकार व्यभिचार अपराध के लिए तीन प्रकार का दण्ड निरुपण करते हैं। (1) सर्वस्वहरण (2) शरीर पर योनि चिन्हाकृति का तपते हुए लोहे की मुद्रा में अंकित करना (3) ग्राम या नगर से निष्कासन। यह तीन प्रकार का दण्ड सामान्य वर्णीय स्त्री के साथ कपटपूर्वक किए गए संभोग के लिए हैं। यदि स्त्री संभोगकर्ता पुरुष से निम्न वर्णीय हो तो इस दण्ड का आधा और यदि स्त्री संभोगकर्ता पुरुष से उच्च वर्ग की हो तो वध का दण्ड देना चाहिए।[5]

वृहस्पति ने व्यभिचार अपराध के लिए विविध दण्ड के साथ ही साथ गुप्त स्थान में बलपूर्वक संभोग के लिए विशेष कठोर दण्ड देने के लिए कहा है।[6]

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 149
2. मिताक्षरा अवतरणिका स्त्री पुंसयोर्मिथुनी भाव संग्रहणम्
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 145
4. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 145
5. व्यवहार मयूख : 145
6. वृहस्पति स्मृति, त्रणायाम् ......बलाद्रहः ।

यदि कोई दृष्टवृत्ति वाला पुरुष पर स्त्री के साथ संभाषण करता है तो उसके लिए मीमांसाकार ने प्रथम साहसदण्ड कहा है।[1] याज्ञवक्ल्य स्मृति का उद्‌घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्‌ट ने कहा है कि पर स्त्री या पर पुरुष को (पिता या अन्य किसी संबंधी द्वारा) एक दूसरे से संभाषण करना निषिद्ध किया गया हैं, लेकिन तब भी स्त्री पुरुष प्रीतिपूर्वक एक दूसरे से संभाषण करते हों, तो इस अपराध के लिए भी दण्ड देने का विधान है।[2] उक्त संबंध में मयूखाकार दण्ड व्यवस्था करते हुए कहते हैं, कि स्त्री और पुरुष में से एक निषिद्ध होने पर प्रत्येक को मनुस्मृति में पूर्वाद्ध में उक्त दण्ड दोनों निषिद्ध हो तो उत्तरार्द्ध में कहा गया दण्ड देना चाहिए।

पुनः मयूखाकार ने कहा है कि यदि स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रेम के वशीभूत होकर संभोग करें तो उसके लिए दण्ड का उल्लेख करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा है कि स्वजातीय स्त्री के साथ संभोग करने का दण्ड उत्तम साहस और उच्चवर्णीय स्त्री के साथ संभोग करने का दण्ड 'वध' और स्त्री को उसके कान और अन्य अवयवों को छेदन (काटना) करने का दण्ड देना चाहिए।[3]

कात्यायनीय वचनों के आधार पर नीलकण्ठ भट्‌ट ने कहा है कि सभी प्रकार के अपराधों में पुरुष के लिए जो अर्थदण्ड निश्चित किया गया है, उसका आधा दण्ड स्त्री को देना चाहिए। तथा जहां पर पुरुषों के लिए मृत्यु दण्ड कहा गया है। वहां स्त्रियों के लिए अवयव छेदन मात्र का ही दण्ड देना चाहिए।[4]

स्त्री संग्रहण (व्यभिचार)

मनुस्मृति के आधार पर मयूखाकार[5] ने कहा है कि ब्राह्मण जातीय लेकिन व्यभिचारी स्त्री के साथ उसकी इच्छा पूर्वक संभोग करने का दण्ड बताते हुए कहा है कि यह दण्ड स्त्री और पुरुष दोनों का एक ही वर्ण हो तो हैं। निम्न वर्ण की व्यभिचारिणी के साथ संभोग करने पर दण्ड मनु ने भी कहा हैं।[6] क्षत्रिय वैश्य, शूद्र जाति की आरक्षित स्त्री के साथ संभोगकर्ता ब्राह्मण को 500

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 150
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 151
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 2/286
4. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 150
5. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 150
6. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 150 (मनु0 8/385)

पणदण्ड और अन्य दूसरी जाति की स्त्री के साथ संभोगकर्ता को 100 पापदण्ड। यदि क्षत्रिय और वैश्य जाति की रक्षित स्त्रियों से ब्राह्मण संभोग करे तो उसे 100 पणों का दण्ड देना चाहिए।

मयूखाकार का कहना है कि यह नियम साध्वी स्त्रियों से संबंधित है, यदि शूद्रवर्णीय पुरुष अरक्षिता द्विज स्त्री के साथ संभोग करता है तो शिशन छेदन और सर्वस्व हरण का दण्ड, और यदि रक्षिता के साथ संभोग करता है तो सर्वस्व हरण का बध दण्ड।[1]

पुनः मीमांसाकार ने कहा है कि आरक्षित ब्राह्मणी के साथ व्यभिचार करने वाले शूद्र का जो दण्ड कहा गया है, वहीं दण्ड क्षत्रिय और वैश्य दोनों के लिए देना चाहिए, या कटाग्नि में उसे जलाना चाहिए।[3]

नीलकण्ठ ने कहा है कि रक्षिता क्षत्रिय स्त्री से यदि वैश्य संभोग करने का अपराध करता है तो उसे अथवा वैश्य जातीय रक्षिता स्त्री से क्षत्रिय यही अपराध करता है तो इन दोनों को वही दण्ड देना चाहिए जो आरक्षित ब्राह्मणी से व्यभिचार करने वाले को दिया जाता है।

वृहस्पतीय वचनों के आधार पर मीमांसाकार उपरोक्त दण्ड या अपवाद भी कहते हैं, कि यह दण्ड ब्राह्मण पर लागू नहीं है, ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य जातीय पुरुषों पर लागू है, ब्राह्मण को राजा उद्वेजक दण्ड रूप चिन्हों से उसके शरीर पर दाग लगाकर अपने राज्य की सीमा से बाहर निकाल दें। और यही अपराध अब्राह्मण करें तो उसे बध दण्ड देना उचित है।[4]

स्मृतिकार शंख और लिखित के मतों के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि शरीर के जिन जिन अंगों से अपराध किा गया हो शरीर के उन उन उन अंगों को काट दिया जावे, किन्तु उक्त अंग छेदन का दण्ड ब्राह्मण से भिन्न जातीय पुरुषों के लिए है। ब्राह्मण के लिए नहीं।[5]

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 150
2.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 151 (मनु0 8/376)
3.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 151 (मनु0 8/337)
4.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 151—152
5.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 152

मयूखाकार ने ब्राह्मण द्वारा दासी के साथ संभोग अपराध के लिए 500 पणों का दण्ड कहा है।[1]

यदि कोई वैश्या, दासी या ब्राह्मण के अलावा अन्य जाति की स्त्री किसी दूसरे पुरुष के पास जाकर स्पर्शादि के द्वारा स्वयं से संभोगा के लिए उत्तेजना प्रेरित करें तो इस कार्य के लिए पुरुष को जो दण्ड कहा गया है उससे आधा दण्ड उस स्त्री को देना चाहिए।[2] ब्राह्मण या उससे भिन्न किसी जाति की स्त्री शूद्र से संभोग करे तो उसके लिए मीमांसाकार दातव्य दण्ड का निरुपण करते हैं।[3]

याज्ञवल्क्य को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि अविवाहित स्त्री को दोष देने वाले को 200 पण्दण्ड, सत्य दोष न हो तो 100 पण दण्ड, पशुओं के साथ संभोग करने वाले को 100 पण्ड दण्ड, संकटकाल या अतिदुःखद प्रसंग में स्त्री से या गाय से संभोग करने वाले का मध्यम साहस दण्ड कहा है।[4]

याज्ञवल्क्य के वचनों को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि संभोग क्रिया या व्यभिचार में लिप्त पकड़े गए स्त्री पुरुषों में से किसी एक के द्वारा अपराध स्वीकार करने पर अपराध की वास्तविकता मान्य नहीं होती है। अपराध की मान्यता के लिए स्त्री पुरुष दोनों की स्वीकृति आवश्यक है।[5]

द्यूत समाह्वय -

द्यूत समाह्वय शब्द का उल्लेख प्रायः सभी स्मृतिकारों व प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने अपने अपने राजनीतिक ग्रंथों में किया है। द्यूत सामह्वय इस समस्त की पद की व्याख्या मनु, नारद, याज्ञवल्क्य, महाभारत, बृहस्पति, कात्यायन, व्यवहार प्रकाश, मिताक्षरा, विवाद रत्नाकर, अर्थशास्त्र व नीलकण्ठ भट्ट ने अपने व्यवहार मयूख में की है। द्यूत का पर्याय शब्द जुआ भी है। द्यूत और समाह्यव ये दो अलग-अलग शब्द हैं सामान्य अर्थ में द्यूम अभिप्राय है। 1. खेला 2. जुआ

1.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 152
2.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 152
3.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 152
4.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 152 (याज्ञ0/2/289)
5.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 152

खेलना, गोटियों (पासों) के माध्यम से खेलना। तथा सामह्वय का अर्थ है– दो प्राणियों में मनोरंजनार्थ दाव पर धन लगाकर कराया जाने वाला युद्ध, तथा उस युद्ध में होने वाली हार या जीत का रूप ही जुआ होता है। अतः द्यूत और सामह्वय दोनों ही पर्यायवाची शब्द हैं। जुआ दो प्रकार का होता है।

1– जिसमें गोटियों (पासों) का आश्रय लेकर हार या जीत का निर्णय होता है। और दाव के रूप में धन लगाया जाता है। 2. दूसरे प्रकार के जुआ के अन्तर्गत पासे के स्थान पर प्राणियों में परस्पर युद्ध या दौड़ होती है। तथा हार जीत का निर्णय होने पर दाव पर लगे हुए धन का लेने देन बहुत ही ईमानदारी के साथ तुरन्त ही कर दिया जाता है।

जुए के विषय में विचार व्यक्त करते हुए स्मृतिकार मनु ने कहा है कि द्यूत क्रीड़ा वह है जो कि पासे (या हाथी के दांत या चमड़े के टुकड़े से निर्मित पासों) से खेला जाता है तथा जिसमें कोई न कोई बाजी (धन और वस्तु के आधार पर) लगायी जाती है। समावह्य वह है जिसमें हार जीत व्यक्तियों के लिए मल्लों जैसे तीतर, कबूतर, भैंसा, भेड़ के द्वन्द युद्ध के परिणामों पर निर्भर रहती है। वर्तमान में समाह्वय के अन्तर्गत घुड़दौड़ का भी प्रचलन है।[1]

स्मृतिकार नारद ने भी द्यूत के विषय में मनु के विचारों का ही समर्थन किया है।[2] स्मृतिकार मनु ने द्यूत क्रीड़ा की निन्दा करते हुए राजा को आदेश दिया है कि वह राज्य में द्यूत क्रीड़ा को निषिद्ध करें तथा उन्होंने द्यूत क्रीड़ा को राज्य नाश का कारण माना है। द्यूत क्रीड़ा को चोरी की श्रेणी में परिगणित कर जुआरियों के लिए शरीर दण्ड की व्यवस्था है। क्योंकि द्यूत क्रीड़ा से भले लोग भी दूषित होते हैं।[3]

महाभारतकार ने लिखा है कि प्राचीन समय में द्यूत के कारण वैर उत्पन्न होता रहा है। मनुष्य को क्षणिक संतुष्टि के लिए जुआ नहीं खेलना चाहिए। क्योंकि जुआ खेलना विशेष बुरी आदत है। प्रमाण स्वरूप राजा नल और युद्धिष्ठर की दुर्दशा का कारण जुआ ही रहा है।[4]

याज्ञवल्क्य ने जुए को राज्य के निमंत्रण में रखकर उसे राजस्व का एक उपादान मान लिया है।[5]

---

1. मनु 0 9/223
2. नारद 19/1
3. मनु0 9/221, 222 और 227
4. महाभारत / उद्योग पर्व अ0 37, श्लोक 19
5. याज्ञवल्क्य : 2/200–203

इस प्रकार एक ओर मनु ईमानदारी, पवित्रता और परिश्रम से अर्जित धन की रक्षा हेतु द्यूत क्रीड़ा को वर्जित मानते हैं और जुए के पर्याप्त भर्त्सना की है। बल्कि दूसरे स्मृतिकार द्यूत क्रीड़ा को वर्जित ठहराकर द्यूत को चोरों का पता लगाने का एक सरल तरीका मानते हैं। लेकिन द्यूत को सब जगह खेलने की छूट भी नहीं देते हैं। वे द्यूतशालाध्यक्ष की उपस्थिति में जुआ खेलने की अनुमति प्रदान करते हैं। क्योंकि तभी राजस्व की उपलब्धि संभव है।

याज्ञवल्क्य के वचनों को उद्धृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि द्यूत शाला प्रमुख के समक्ष जुआरियों के समूह से जो धन खुले रुप से जीत में प्राप्त हुआ हो उसमें राजस्व के रुप में राज्य का निर्धारित भाग यदि राजा को दिया जा चुका हो और जिन जुआरियों से द्रव्य आना शेष हो तो उनसे द्रव्य वसूल किया जाना चाहिए, अन्य जुआरियों से नहीं।[1]

आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने भी द्यूत क्रीड़ा में छल कपट करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था करते हुए कहा है कि कपट पूर्ण पासा बनाकर या जुआ खेलते समय जो छल कपट का आश्रय लेता है उसको तपती हुई लोहे की मुद्रा में दगित कर देश से बाहर निकाल देना चाहिए।[2]

जो व्यक्ति राजा की बिना आज्ञा से जुआ खेलते हैं और दूसरों को खिलाते हैं मनुस्मृति के आधार पर मीमांसाकार ने उनको दण्ड देने के लिए कहा है।[3]

याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर मयूखाकार द्यूत के नियमों को समाह्वय में भी लागू करने का निर्देश करते हैं।[4] तथा व्यवहार मयूख में कहा गया प्राणि द्यूते यह पद समाह्वये पद का क्रिया विशेषण है।

साक्षी

व्यवहार शास्त्र में मान्य प्रमाणों में से साक्षी एक महत्वपूर्ण प्रमाण है। प्राचीन काल से लेकर अब तक विभिन्न स्मृतिकारों व धर्माचार्यों ने साक्षी शब्द को गवाह, प्रेक्षक तथा विटनैस आदि विभिन्न नाम दिए हैं।

---

1. व्यवहार मयूखः पृष्ठ 153
2. व्यवहार मयूख : पृष्ठ
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 154, मनु0 9/224
4. व्यवहार मयूाख : पृष्ठ 154

साक्षात देखने वाले व्यक्ति को साक्षी कहा जाता है।[1]

इसी विषय में गौतम, कौटिल्य तथा नारद ने कहा है कि जब व्यक्तियों में किसी विरोध व शंकास्पद विषय (बात) पर विवाद होता है उस स्थिति में साक्षी के द्वारा ही सत्य व प्रकटीकरण होता है।[2]

योग साक्षी– मनु, नारद, कात्ययान आदि सभी स्मृतिकारों के अनुसार उसी व्यक्ति के साक्ष्य का औचित्य है जिसने स्वयं देखा हो अथवा सुना हो या अनुभव किया हो।[3]

नारद वचनों के आधार पर साक्षी की आवश्यकता एवं प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जब दो पक्षों में किसी विषय पर विवाद या संशय उत्पन्न हो जाता है तो उसका स्पष्टीकरण, उस विवाद या संशयग्रस्त घटना को प्रत्यक्ष रूप से देखने वाले व्यक्ति की साक्षी (गवाही) के आधार पर करना चाहिए।[4]

साक्षी के भेद –

वृहस्पति ने साक्षी के बारह भेद बतायें हैं। – 1. लिखित 2. लिखा हुआ 3. गुप्त 4. याद आया हुआ 5. कुटुम्बीजन 6. संदेशवाहक दूत 7. स्वेच्छा से बना हुआ साक्षी 8. उत्तर साक्षी 9. व्यापार ध ंधे में नियुक्त निष्पक्ष व्यक्ति 10. राजा 11. प्राड 12. ग्राम अथवा नगर या घटना स्थल के निवासीजन।

आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने अपने व्यवहार मयूख में साक्षी के प्रकारों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया है।

---

1. पाणिनी अष्टाधियायी : 5/2/91
2. गौतम : 13/1, कौटिल्य 3/11, नारद 4/147
3. मनु : 8/74, नारद 4/148, कात्यायन , 346
4. व्यवहार मयूखः पृष्ठ 21

साक्षियों की संख्या -

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट वार्हस्पत्य के वचनों को उद्घृत कर साक्षियों की संख्या निरूपित करते हुए कहते हैं कि दावे में नौ, सात, पांच अथवा चार या तीन साक्षी भी चल सकते हैं यदि साक्षी श्रौत्रिय (वेदों के जानने वाले) हो तो दो साक्षी पर्याप्त हैं। अधिक की आवश्यकता नहीं है। केवल एक साक्षी कभी नहीं लेना चाहिए।

लिखित और गूढ़ साक्षी दो दो होने चाहिए। स्वेच्छा से साक्षी बना हुआ, स्मारित, कुटुम्बीजन तथा उत्तर साक्षी में तीन चार अथवा पांच होने चाहिए। यदि साक्षी संदेश वाहक दूत, व्यापार धंधे में नियुक्त, राजा अथवा न्यायाधीश हो तो एक भी पर्याप्त है।[1]

इसी संबंध में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि लिखित अथवा अन्य साक्षी का वक्तव्य आदि दोनों ही पक्षों की सर्वसम्मति से लेना हो तो एक साक्षी भी पर्याप्त है।[2]

एक मात्र साक्षी के गुण-

केवल एक मात्र साक्षी होने पर साक्षी की योग्यता के संबंध में व्यास के वचनों के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है कि जो कर्म निर्दोष है, धर्मशास्त्र का ज्ञाता है, सत्यभाषी हे, आदि जानकारी जिसके विषय में हों तो ऐसा एक भी साक्षी सभी विवादों में पर्याप्त प्रमाण के रूप में माना जाता है।[3]

कात्यायनीय वचनों के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि धरोहर संबंधी और उसके समरूप विवाद में यदि सत्यभाषी साक्षी न हो तो भी कोइ एक साक्षी पर्याप्त है।[4] विक्रय संबंधी विवाद में भी एक साक्षी पर्याप्त है ऐसा नीलकण्ठ भट्ट ने व्यवहार मयूख में कहा है।[5]

साक्षी के गुण एवं योग्यता -

किसी विवाद में ग्राह्य साक्षियों में कौन –कौन से गुण होना आवश्यक है। इस संबंध में स्मृतिकार व्यास के वचनों के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट ने व्यवहार मयूख में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है। जिसमें न्याय अन्याय को समझने की क्षमता हो, पुत्रवान, अच्छे कुल खानदान वाला, सत्यवादी, आचारवान, द्वेषरहित, श्रौत्रिय, स्वाधीन, विद्यासंपन्न, उसी स्थान का रहने वाले एवं युवावस्था के साक्षी को ऋणादि संबंधी विवादों में साक्षी करना चाहिए।[6]

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 21–22
2. याज्ञवल्क्य : पृष्ठ 2/72
3. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 22
4. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 22
5. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 22
6. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 22

नारदीय वचनों के आधार पर नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि स्त्री संबंधी विवादों में स्त्रियों को साक्षी करना चाहिए।[1]

वर्जित साक्षी –

कौन साक्षी साक्ष्य देने योग्य नहीं है इसका उल्लेख नीलकण्ठ भट्ट ने याज्ञवल्क्य को उद्धृत करते हुए कहा है कि स्त्री, अबोध बालक, वृद्ध, जुआरी, मद्योन्मत्त, भूत–प्रेतादि वाधा से पीड़ित, कुख्यात, नाट्य अभिनयकर्ता, नास्तिक, लूला–लंगड़ा, समाज से बहिष्कृत, मित्र, दावे के संबंध में जिसका हित अहित समाहित हो, भागीदार, शत्रु, चोर, साहसी, जो व्यक्ति झूंठ बोलने में प्रसिद्ध हो, परिजनों का त्यागा गया, चाचा, ताऊ, मामा आदि ये सभी विवादों में साक्षी के लिए अयोग्य हैं।[2]

उपरोक्त साक्षी के लिए अयोग्य व्यक्ति के विषय में भी नारद याज्ञवल्क्य, वृहस्पति, कात्यायान, व वीरमित्रोदय के भी नीलकण्ठ के ही समान विचार है।[3]

जिन साक्षियां को वर्जित अथवा अयोग्य ऊपर कहा गया है वे ही साक्षी कुछ मामलों (अभियोगों) में साक्ष्य देने योग्य हैं, ऐसा नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है।[4] जैसे कि दास, दुराचारी आदि जिन्हें असाक्षी घोषित किया गया है वे सभी विवादित विषयों में महत्व के अनुसार साक्षी के लिए ग्राह्य हो सकते हैं।[4]

योग्य साक्षी के उपलब्ध न होने की स्थिति में क्या करना चाहिए इस विषय में मनु के वचनों को उद्धृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जिस अभियोग में योग्य साक्षी उपलब्ध न हो वहां स्त्री, नाबालिग, वृद्ध, शिष्य अथवा परिचित भाई, दास–नौकर आदि भी साक्ष्य देने के लिए स्वीकार करने चाहिए।[5]

इसी संबंध में मनु और याज्ञवल्क्य ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि 'चोरी, मारपीट और साहस व जारकर्म संबंधी विवाद में कोई भी व्यक्ति साक्षी होने योग्य है।[6]

---

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 22
2.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 23
3. नारद : 1/161, याज्ञवल्क्य : 2/60–6, वीरमित्रोदय पत्र 5 पृष्ठ 2
4.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 23
5.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 23 (8/70)
6. याज्ञवल्क्य : 2/73, मनु 8/72

झूठा साक्षी बनाने वाले को दण्ड -

मयूखाकार ने कहा है कि जो व्यक्ति अपने पक्ष में निर्णय प्राप्त करने के लिए झूठा गवाह प्रस्तुत करता है उसका सब कुछ हरण कर, उसका दावा निरस्त कर देना चाहिए।[1]

नीलकण्ठ भट्ट ने साक्षी के प्रमाण के रूप में धार्मिक आस्था को बलबती मानते हुए कहा है कि प्राणबध के मामले में साक्षी का ब्यान शिव (भगवान शंकर) के समीप लेना चाहिए।[2]

इस संबंध में वीर मित्रोदय कार ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। जब बध किए जाने के चिन्ह उपलब्ध न हों, बध चिन्ह उपलब्ध होने पर उन्हीं चिन्हों के समीप में साक्षी के साक्ष्य लेने चाहिए। बध ा चिन्हों के अभाव में शिव सानिध्य में साक्षी के साक्ष्य लेनें चाहिए। लेकिन बध चिन्ह (सींग, पूंछ, सिर अथवा पैर) आदि उपलब्ध हों तो अभियोग काल में न्यायालय में प्रस्तुत कर उनके संबंध में साक्षी के बयान ग्रहण करना चाहिए।[3]

प्राणि शव प्राणि वध का प्रमाण है अतः उसके समीप में अथवा अन्य बध चिन्हों के समीप में साक्षी के साक्ष्य लेने चाहिए। बध के प्रमाण में प्राणी का शव या उसके अंग प्रमाण हैं। किन्तु दोनों का अभाव होने पर शिव के समीप में साक्षी के साक्ष्य लेने चाहिए। यह नीलकण्ठ भट्ट का आशय है।[4]

गवाही देने से पूर्व पक्षियों को शपथ द्वारा निबन्धित करना-

नारदीय वचनो को उद्घृत करते हुए नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है कि जो शास्त्रोक्त आचारों का परिपालन करने में प्रसिद्ध हैं, तथा विवादित विषय की जिन्हें जानकारी भी है ऐसे सभी साक्षियों को न्यायाधीश अपने पास बुलाकर उनको शपथ द्वारा निबंधित करने के पश्चात् अलग अलग उनके साक्ष्य प्रमाण ग्रहण करें।[5]

1.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 25
2.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 26
3.व्यवहार मयूख : साक्ष्य प्रकरण
4.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 26
5.व्यवहार मयूख : पृष्ठ 26

साक्ष्य विधि-

साक्षी अपना साक्ष्य कथन जिस प्रकार करे तथा उसे किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए, इस विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने वशिष्ठ के मत को उद्घृत करते हुए कहा है कि जो कृत्य अथवा घटना सभी साक्षियों ने मिलकर जैसी देखी, सुनी हो, वे सभी मिलकर उसी प्रकार से कहें। जो कृत्य अथवा घटना सबने मिलकर न देखी–सुनी हो वे सभी मिलकर उसी प्रकार से कहें। जो कृत्य अथवा घटना सबने मिलकर न देखी सुनी हो अलग अलग देखी सुनी हो, उसे प्रत्येक साक्षी अलग अलग कहें। जहां कोई कृत्य अथवा घटना भिन्न भिन्न समय में ज्ञात की गई हों, वहां साक्षियों के साक्ष्य पृथक पृथक लेना चाहिए, ऐसा नियम है।[1]

1. व्यवहार मयूख : पृष्ठ 26

उपसंहार (निष्कर्ष)

नीलकण्ठ भट्ट के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन

नीतिमयूख की मौलिकता-

नीलकण्ठ भट्ट कृत नीतिमयूख राजधर्म निबन्धों में मुकुटमणि के समान है। प्रायः सभी राजधर्म निबन्धकार, कर्मकाण्ड संबंधी कृत्यों एवं पद्धतियों में उलझ गए, मात्र चण्डेश्वर ही इसके अपवाद हैं। अर्थात चण्डेश्वर ने अपने ग्रंथ राजनीति रत्नाकर में कर्मकाण्ड संबंधी कृत्यों का उल्लेख नहीं किया है। प्राचीन निबन्धकारों ने राजनीति के शुद्ध स्वरूप को प्रस्तुत नहीं किया है। उन्होंने राजधर्म की आत्मा की उपेक्षा की है और उसके आडम्बरपूर्ण वाह्य कलेवर का वर्णन करने में ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है।

मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने इस तथ्य को समझा और इस अभाव की पूर्ति करने का साहस किया। राजधर्म का जो स्वरूप धर्मशास्त्रों एवं नीतिग्रंथों में दिया है, उन्होंने उसका विधिवत अध्ययन कर, देश, काल और परिस्थिति के अनुसार राजधर्म के वास्तविक स्वरूप का उल्लेख नीतिमयूख में किया है। नीलकण्ठ भट्ट ने राजधर्म संबंधी आडम्बर पूर्ण कर्मकाण्ड के कृत्यों, विधियों एवं विषय पद्धतियों की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने अपने निबन्ध में (नीतिमयूख) में केवल राजा के राज्याभिषेक संबंधी कृत्यों का उल्लेख सविस्तार किय है। नीलकण्ठ भट्ट ने राजधर्म संबंधी अन्य कृत्य का उल्लेख नही किया है।

नीलकण्ठकृत नीतिमयूख में अनेक ऐसे प्रकरण हैं जिनमें पुराणों, स्मृतिकारों, नीतिकारों एवं राजधर्म निबन्धकारों के विचारों को ही नही, अपितु उनकी शब्दावली को भी ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया गया है।

अतः नीतिमयूख की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि नीतिमयूख का निर्माण विशेष रूप से धर्मशास्त्रों एवं नीतिग्रंथों से विषयानुकूल एवं तथ्यपूर्ण सामग्री का चयन कर किया गया है। पौराणिक पद्धति एवं पुराण साहित्य के आधार पर नीतिमयूख को नहीं लिखा गया है। इसमें केवल राज्याभिषेक संबंधी कृत्य पौराणिक हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में इस निबन्ध को अछूता रखने का

प्रयत्न किया गया है। परन्तु इतना होने पर भी उसका अपना अस्तित्व एवं उपयोगिता है। क्योंकि यदि कोई चतुर वास्तुवदिकार (शिल्पी) किसी प्राचीन खण्डहर (भवन) के ईट पत्थरों का उपयोग कर एक नवीन भव्य एवं शानदार भवन का निर्माण करता है तो क्या वह भवन नवीन (मौलिक) नही समझा जाएगा, अर्थात् ऐसे भवन की भी विशेषता मौलिकता एवं उपयोगिता होती है। उसी प्रकार नीलकण्ठ भट्ट कृत नीतिमयूख भी राजनीति का एक मौलिक ग्रंथ है।

तत्कालीन (दसवीं से सत्रहवीं सदी तक के) निबन्धकारों के सभी निबन्ध संकलन मात्र थे। इन निबन्धकारों ने अपने अपने निबन्धों में सामग्री की गुत्थियों को सुलझाने एवं उसे लोकोपयोगी बनाने के लिए व्याख्याएं भी दी हैं। ये व्याख्याएं उनकी मौलिक थीं। इसी श्रेणी में निबन्धकार नीलकण्ठ भट्ट एवं निबन्ध ग्रंथ नीतिमयूख आता है।

उपर्युक्त तथ्यों के होते हुए भी यह कहना कि नीलकण्ठ कृत नीतिमयूख मौलिक ग्रंथ नहीं है, बल्कि अन्य ग्रंथों का संक्षिप्त रूप मात्र है, बहुत बड़ी भूल होगी।

अतः इस आधार पर हम कह सकते हैं कि नीलकण्ठ भट्ट कृत नीतिमयूख भी एक मौलिक ग्रंथ है।

नीलकण्ठ भट्ट के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन--

शोधित ग्रंथ नीतिमयूख के रचयिता मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट का नाम राजनीतिकारों निबन्धकारों में सम्मान के साथ लिया जाता है। इनके वंशज महाराष्ट्र के मूल निवासी थे। इनका परिवार पूर्व से ही सरस्वती का उपासक रहा है। इन्होंने कभी भी अपने समय (प्रादुर्भावकाल) का उल्लेख नहीं किया है। लेकिन प्राप्त प्रमाणों व इनकी रचनाओं के आधार पर इनका समय सम्वत् 1610 से 1645 तक अर्थात् सत्रहवीं सदी माना गया है। डॉ0 पी.वी. काणे ने भी इनका एवं इनकी रचनाओं का समय सम्वत् 1610 से 1645 माना है। नीलकण्ठ भट्ट ने अपने आश्रयदाता राजा श्री भगवन्तदेव की प्रतिष्ठा में भगवद्भास्कर नाम के एक विशालकाय निबन्ध की रचना की थी। उन्होंने अपने इस निबन्ध की प्रकाश पुंज –भास्कर (सूर्य देव) के रूप में कल्पना कर उसे 12 मयूखों (किरणों) में विभाजित किया। नीलकण्ठ भट्ट द्वारा रचित ये 12 मयूख संस्कार मयूख, आचार मयूख,

समय मयूख, श्राद्ध मयूख, नीतिमयूख, व्यवहार मयूख, दानमयूख, उत्सर्ग मयूख, प्रतिष्ठा मयूख, प्रायश्चित मयूख, शुद्धिमयूख एवं शान्तिमयूख हैं। नीतिमयूख राजनीति का प्रमुख ग्रंथ है। इसमें इन्होंने राजनीति का चित्रण सविस्तार किया है।

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने प्राचीन परम्परा के अनुसार राज्य के स्वरूप की सप्तात्मक (सप्तांग) राज्य की कल्पना की है। राज्य के निर्माण हेतु वह इन सात अंगों को आवश्यक मानते हैं। राज्य के ये सात अंग 'स्वामी, अमात्य, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना है। सप्तांगों के विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने मनु, कौटिल्य, शुक्र एवं चण्डेश्वर के समान ही विचार व्यक्त किए हैं।

राज्य एवं राजा की उत्पत्ति के विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने मनु, कौटिल्य एवं कामन्दक के समरूप ही व्याख्या की है। उन्होंने भी नीतिमयूख में सविस्तार चर्चा नहीं की है। नीलकण्ठ भट्ट ने राजा को इस भूतल पर देव माना है। वह मानते हैं कि राजा का निर्माण आठ प्रधान देवों, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्र और कुवेर के सारभूत अंशों के संचय एवं संयोग से होता है।

मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट ने अपने समकालीन राजनीतिक विचारक चण्डेश्वर के समान ही राजा शब्द के अर्थ की विशेष विवेचना की है इसके अनुसार राजा शब्द जाति परक नहीं है अर्थात वह क्षत्रिय मात्र को ही नहीं मानते हैं। बल्कि वह राजा से अभिप्राय राजयोगियों से लगाते हैं। वह क्षत्रिय धर्म और राजधर्म को एक दूसरे का पर्याय नहीं मानते।

इसके उपरांत राज्याभिषेक प्रकरण का वर्णन किया गया है। नीलकण्ठ भट्ट के अनुसार राज पद प्राप्ति के निमित्त राज्याभिषेक अनिवार्य कृत्य है। उनके अनुसार कोई भी व्यक्ति उस समय तक विधि विहित राजा नहीं है जब तक कि शास्त्रानुसार उसका राज्यभिषेक नहीं हो जाता। अनिभिषिक्त राजा लोक की दृष्टि में पतित एवं निन्दनीय (माना गया है) समझा जाता है।

राज्याभिषेक के अन्तर्गत अभिषेक होने वाले राजा की योग्यता राजा के अभिषेक का उचित समय, अभिषेक की विधि एवं अभिषिक्त राजा का प्रजापालन धर्म का सविस्तार उल्लेख किया गया है। इन कृत्यों के वर्णन में उन्होंने पौराणिक पद्धति का आश्रय लिया है। मुख्यतः विष्णु धर्मोत्तर पुराण एवं देवीपुराण से उपयुक्त सामग्री का चयन किया गया हैं। इस पौराणिक पद्धति में गोपथ ब्राह्मण

की अभिषेक संबंधी पद्धति का पुट दिया गया है। इन्होंने प्रजा की रक्षा एवं प्रजापालन करना ही अभिषिक्त राजा का मुख्य धर्म माना है। राज्याभिषेक संबंधी कृत्यों के वर्णन में नीलकण्ठ भट्ट ने अपनी विशेष रूचि प्रगट की है। यही उनकी अपनी सूझ है।

नीलकण्ठ भट्ट ने प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार चार विद्याये मानी हैं। ये चार विद्याएं आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति है। वह देहधारियों के योगक्षेम के लिए इन चार विधाओं को आवश्यक मानते हैं। विधाओं के वर्गीकरण एवं उपयोगिता के संबंध में नीलकण्ठ भट्ट ने कामन्दक व कौटिल्य के समान ही अपने विचार व्यक्त किए हैं।

अन्य राजनीतिकि विचारक मनु, भीष्म, कौटिल्य, सोमदेव सूरि, व लक्ष्मीधर भट्ट की तरह नीलकण्ठ भट्ट भी लोक की स्थिति एवं उसके सम्यक् संचालन हेतु राजा की परम आवश्यकता मानते हैं। वह राजा को स्वामी के नाम से पुकारते हैं। राजा के गुण दोष (व्यसन) एवं कर्तव्य आदि विषयों के चयन में नीलकण्ठ भट्ट ने मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति एवं कामन्दकीय नीतिसार को दृष्टान्तित किया हैं। मयूखाकार ने राजा के लिए कुछ गुण एवं योग्यताएं अनिवार्य बतलाकर उनकी अनिवार्य रूप से पालन करने की व्यवस्था की है। तथा एक आदर्श व चरित्रवान राजा को वह हमेशा व्यसनमुक्त देखते हैं। मद्यपान करना एक अत्यधिक व्यसन होने पर भी नीलकण्ठ भट्ट ने कुछ परिस्थितियों में राजा को मद्यपान की स्वीकृति प्रदान की है। यह उनकी अपनी सूझ है। इसके उपरान्त राज्यकृत्य सबंधी प्रकरण है।

इस प्रकरण के अन्तर्गत राजा की दिनचर्या निर्धारित की गई है। इसके अन्तर्गत राजा के प्रातः जागने से लेकर सोने तक अर्थात् अपने शरीर से संबंधित छोटे से छोटे कार्य से लेकर महान से महान कार्य को कार्यान्वित करने का विधान है। इन राजकृत्यों के निर्धारण से राजा के जीवन का एक एक क्षण किसी न किसी कार्य हेतु निर्धारित होता हैं इस विषय में नीलकण्ठ भट्ट ने मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत, बृहतसंहिता, अर्थशास्त्र व कामन्दकीय नीतिसार को दृष्टान्तित किया है।

नीलकण्ठ भट्ट ने प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्परा का पालन करते हुए राजाओं के लिए जल, स्थल और आकाशीय तीन प्रकार के मृगया (आखेट) का उल्लेख सविस्तार कर अपनी विलक्षण

प्रतिभा का परिचय दिया हैं। इन्होंने मृगया के उल्लेख में मनु, कौटिल्य एवं कामन्दक को उद्‌घृत किया है। नीलकण्ठ भट्‌ट ने मृगया (आखेट) को राजा के लिए गुणकारी बताया है लेकिन अत्यधिक मृगयाशक्ति को वह एक व्यसन मानते हैं।

इसके उपरांत राजा के दीर्घ जीवन के लिए नीलकण्ठ भट्‌ट ने विष परीक्षा भोजनम् प्रकरण का उल्लेख मनु, योगयात्रा, एवं नीतिसार को दृष्टान्तित करते हुए कहा है कि राजा को भोजनादि के संबंध में में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए तथा विषनाशक एवं विष मिश्रित अन्न के लक्षणों के ज्ञाताओं से जाँच कराकर ही राजा भोजन करे।

राजकृत्यों के उल्लेख के बाद नीलकण्ठ भट्‌ट ने राजपुत्र (युवराज) एवं उसके कृत्यों का उल्लेख किया है। इस विषय में कामन्दकीय नीतिसार को दृष्टान्तित कर नीलकण्ठ भट्‌ट ने युवराज और अमात्य को राजा की दो भुजाएं बतलाया है। नीलकण्ठ भट्‌ट ने युवराज (राजकुमार) को अठारह तीर्थों में से एक मानकर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। नीलकण्ठ भट्‌ट का मत है कि राजकुमार को वही कार्य करना चाहिए जिससे उसके माता पिता, भाई–बहिन और देश की प्रजा प्रसन्न रहे। राजपुत्र को राजपद प्राप्ति के अनुरूप गुण एवं योग्यताओं को धारण करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। वह दुर्विनीत युवराज से राजा को सुरक्षित रखने की व्यवस्था करते हैं। लेकिन राजा को दुर्विनीत युवराज का परित्याग नहीं करना चाहिए।

अमात्य प्रकरण के अन्तर्गत नीलकण्ठ भट्‌ट ने सात या आठ अमात्यों (मंत्रियों) के मंत्रिमण्डल का उल्लेख किया हैं जबकि भीष्म ने महाभारत में 37 (सैंतीस) सदस्यीय मंत्रि परिषद का उल्लेख किया है। युवराज एवं अमात्य प्रकरण की विषय वस्तु को नीलकण्ठ भट्‌ट ने मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत एवं कामन्दकीय नीतिसार की विषयवस्तु से उद्‌घृत किया है।

नीलकण्ठ भट्‌ट का मत है कि राजा या राष्ट्र के दुःख सुख में अथवा सम्पत् विपद् दोनों में स्नेह करे वह सुहृत व मित्र कहलाता है। मयूखाकार पुरोहित को राज्य के सभी प्रकार के मंगल का कारण मानते हैं। इसलिए राजा को अपने राज्य (प्रजा) की मंगलकामना हेतु विद्या एवं दण्डनीति विद्या में कुशल व्यक्ति को अपना पुरोहित नियुक्त करना चाहिए। नीलकण्ठ भट्‌ट ने पुरोहित की

योग्यता एवं उपयोगिता तथा सुह्रत (मित्र) के लक्षणों एवं योग्यताओं आदि की विषयवस्तु को नीतिसार से उद्घृत किया है।

इसके उपरांत दूत –चर प्रेषणम् प्रकरण के अन्तर्गत दूत एवं चरों की योग्यता कर्तव्य, आचार एवं व्यवहार तथा दूतों के तीन भेद निसृष्टार्थ, मितार्थ और शासन वाहक का उल्लेख मयूखाकार ने कामन्दकीय नीतिसार को उद्घृत कर किया है।

नीलकण्ठ भट्ट राजा को उसके कार्य (राजकाज) में सहयोग करने के लिए कुछ सेवकों की आवश्यकता पर बल देते हैं, क्योंकि राज्य संचालन जैसा महान कार्य एक या दो व्यक्तियों द्वारा संपादित नहीं हो सकता।

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट ने माघ, कालिदास, बराहमिहिर एवं कामन्दक के मत को उद्घृत कर कोश की विशिष्ट उपयोगिता बताई है। वह कोश को राज का मूल मानते हैं। उन्होंने भीष्म को उद्घृत कर राजा को कोश संचय हेतु वत्स द्वारा गाय का स्तन पान, भ्रमर द्वारा पुष्प रसपान एवं मधुमक्खी द्वारा मधुसंग्रह नीति को पालन करने को कहा है।

कोष प्रकरण के उपरांत नीलकण्ठ भट्ट ने राष्ट्र का वर्णन किया है। वह राज्य के सप्तांगों में से छः अंगों को राष्ट्र के अधीन मानते हैं। नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि परिपंथियों, राष्ट्र अपघातकों, पापी राजबल्लभों एवं दुष्टों से प्रजा एवं राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए। याज्ञवल्क्य एवं भीष्म के मत को उद्घृत कर नीलकण्ठ भट्ट ने राष्ट्र की अति दोहन नीति का विरोध कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।

नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में सेनापति को ध्वजिनीपति के नाम से संबोधित किया है। उन्होंने कामन्दकीय नीतिसार को उद्घृत कर सेनापति के गुणों एवं कृत्यों का उल्लेख सविस्तार किया है। नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि सेना के चार अंग गजसेना, अश्वसेना, रथ सेना और पैदल सेना हैं। मयूखाकार ने गज के चार प्रकार – भद्र, मन्द, मृग और मिश्र माने हैं तथा सभी के अलग अलग गुण, लक्षण शरीर के अंगों, प्रत्यंगों बंधने के स्थान (शाला) एवं उनके प्रशिक्षण का उल्लेख कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। इसी प्रकार अश्वसेना, एवं रथ सेना की उपयोगिता एवं

उसके विशेष गुणों व लक्षणों का उल्लेख सविस्तार वृहत्संहिता को उद्घृत कर किया है। युद्ध (स्कन्धावार) स्थल, सेना व सेनापति प्रस्थान एवं व्यूह रचना आदि का वर्णन नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिसार को दृष्टान्तित कर किया है। नीलकण्ठ भट्ट ने युद्ध के लिए वीरों को उत्साहित करने के लिए उन्हें स्वर्ग प्राप्ति का लोभ दिया है। इस सिद्धांत की पुष्टि में उन्होंने मनु, भीष्म, बराहमिहिर को दृष्टान्तित कर कहा है कि रणस्थल में युद्ध करते करते जो अपने प्राण देता है उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

मयूखाकार ने युद्ध को तीन श्रेणियों धर्मयुद्ध, कूटयुद्ध, तूष्णीयुद्ध में विभक्त किया है। इन्होंने कूटयुद्ध एवं धर्मयुद्ध के लक्षण, लाभ हानि तथा किन परिस्थितियों में अवलम्बन करना चाहिए का सविस्तार उल्लेख मनुस्मृति , वृहस्पतिस्मृति एवं कामन्दकीय नीतिसार को उद्घृत कर किया है।

युद्ध प्रकरण के उपरांत दुर्ग प्रकरण दिया गया है। नीलकण्ठ भट्ट ने दुर्ग के उपयुक्त भूभाग, दुर्ग के लक्षणों, दुर्ग के प्रकारों एवं उपयोगिता का उल्लेख मनुस्मृति, महाभारत एवं नीतिसार को उद्घृत कर किया है। इन्होंने दुर्ग के प्रकारों में मनुष्य दुर्ग के एक विशेष प्रकार का बन्धु दुर्ग भी बताया है। यह उनकी अपनी सूझ जान पड़ती है । नीलकण्ठ भट्ट का मत है कि जब मनुष्य दुर्ग (बन्धु दुर्ग) संभव हो तब तक अन्य मनुष्य दुर्ग राजा को नहीं बनाना चाहिए। बन्धु दुर्ग से उनका अभिप्राय राजगृह के समीप (आसपास) चारों ओर राजा के बन्धु–बान्धवों से घिरा होना अर्थात् निवास करने से है।

दुर्ग प्रकरण के उपरांत मण्डल सिद्धांत (अरि मित्र उदासीन लक्षण) प्रकरण दिया गाय है। सभी प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य की विदेश नीति का प्रमुख आधार मंडल सिद्धांत माना है। मण्डल सिद्धांत को रज प्रकृतियां भी कहा गया है। इन राज प्रकृतियों (मण्डलों) की संख्या राजशास्त्र प्रणेताओं ने अलग –अलग बताई है। जैसे –मनु ने चार, कौटिल्य ने नौ, लेकिन नीलकण्ठ भट्ट ने बारह का उल्लेख कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। नीलकण्ठ भट्ट ने राजमण्डलों का उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति एवं कामन्दकीय नीतिसार को उद्घृत कर किया है।

इसके उपरांत नीलकण्ठ भट्ट ने षाडगुण्य मंत्र प्रकरण का उल्लेख किया है। वह राजाओं की

विजय एवं पराजय इसी मंत्र पर आधारित मानते हैं। नीलकण्ठ भट्ट षाड्गुण्य मंत्र के छः गुण (अंग) संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय (संश्रय) मानते हैं। उन्होंने संधि की परिभाषा एवं उसके सोलह भेद, विग्रह की परिभाषा व कारण, यान की परिभाषा एवं उसके पांच भेद, आसन की परिभाषा एवं दो भेद, द्वैधीभाव की परिभाषा एवं भेद तथा आश्रय का सविस्तार उल्लेख मनुस्मृति, बृहत्संहिता, एवं कामन्दकीय नीतिसार को उद्घृत कर किया है। मयूखाकार नीलकण्ठ भट्ट षाड्गुण्य मंत्र (राजा) की सफलता, उपाय, चतुष्ट्य, साम (प्रिय भाषण), दाम (दान, सुवर्णादि उपहार देना), दण्ड (धनापहरण) और वध आदि कर्म तथा भेद (फूट डालना) के अधीन मानते हैं। यह उनकी अपनी सूझ है।

इसके उपरांत नीलकण्ठ भट्ट ने अपने व्यवहारिक (कानून) ग्रंथ व्यवहार मयूख में करीब 30 स्मृतिकारों के व्यवहार विषयक बचनों को संकलित करके व्यवहार की चर्चा की है। मयूखाकार ने व्यवहार को परिभाषित करते हुए कहा है कि आपस में झगड़ा कर रहे दोनों पक्षधारों में से अन्याय करने वाला कौन है, यह ज्ञात नहीं होता है, तब उस अन्याय का निश्चय कर सकने योग्य जो उपाय, साधन है उसे ही व्यवहार कहते हैं। व्यवहार प्रकरण के अन्तर्गत मयूखाकार ने सर्वप्रथम ऋण कर्ज की शर्तें, ब्याज, अभिप्राय, ऋण अदा करने का दायित्व, अदेय ऋण, मृतक के ऋण का अदाकर्ता एवं अनावश्यक ऋण के भुगतान का सविस्तार उल्लेख किया है।

इसके उपरांत दत्तक (गोद लेना) प्रकरण में दत्तक की परिभाषा एवं योग्यता, दत्तक पुत्र का उद्देश्य, दत्तक पुत्र लेने का अधिकारी, दत्तक किसे लिया जा सकता है और किसे नहीं तथा पुत्रदान एवं प्रतिग्रह की विधि का उल्लेख कर नीलकण्ठ भट्ट ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। दत्तक प्रकरण में नीलकण्ठ भट्ट ने मनु, याज्ञवल्क्य, नारद एवं शौनक के वचनों को उद्घृत किया है।

इसके उपरांत स्तेय (चोरी) प्रकरण में चोरी की परिभाषा, चोरी योग्य द्रव्य, चोर के प्रकार, चोर के लिए दण्ड के विषय में उल्लेख, नीलकण्ठ भट्ट ने मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारदस्मृति एवं बृहस्पतिस्मृति को दृष्टान्तित कर किया है।

इसके उपरांत साहस प्रकरण के अन्तर्गत नीलकण्ठ भट्ट ने साहस के स्वरूप एवं लक्षण, साहस के भेद एवं साहस के दुष्परिणाम आदि का उल्लेख मनु, याज्ञवल्क्य, नारद व वृहस्पति के वचनों को उद्घृत कर किया है।

नीलकण्ठ भट्ट ने व्यवहार मयूख में स्त्री संग्रहण (व्यभिचार) नामक व्यवहार पद का उल्लेख 17 वें स्थान पर किया है। इस प्रकरण के अन्तर्गत

उन्होंने स्त्री संग्रहण (व्यभिचार) से अभिप्राय, व्यभिचार अपराध के लिए तीन प्रकार का दण्ड का उल्लेख कर नीलकण्ठ भट्ट ने अपनी सूझ का परिचय दिया है। व्यभिचार प्रकरण का उल्लेख नीलकण्ठ भट्ट ने मनु, याज्ञवल्क्य एवं कामन्दकीय वचनों को उद्घृत कर किया है।

इसके उपरांत द्यूत समाह्वय प्रकरण के अन्तर्गत द्यूत (क्रीड़ा) समाह्वय पद की व्याख्या, द्यूत (क्रीड़ा) लक्षण एवं प्रकार तथा द्यूत (क्रीड़ा) की निन्दा का उल्लेख मनु, भीष्म, याज्ञवल्क्य एवं नारद के वचनों को उद्घृत करके किया है।

साक्षी प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी पद का अभिप्राय, योग्य साक्षी के लक्षण, साक्षी के भेद, साक्षियों की संख्या एक मात्र साक्षी के गुण, वर्जित साक्षी, झूंठा साक्षी बनाने वाले को दण्ड एवं साक्ष्य विधि ा का सविस्तार उल्लेख मनु, नारद एवं याज्ञवल्क्य के वचनों को उद्घृत कर किया है।

मीमांसक आचार्य नीलकण्ठ भट्ट राजनीति संबंधी नीतिमयूख एवं व्यवहार संबंधी व्यवहारमयूख में राजनीति एवं व्यवहार के शुद्ध स्वरूप का वर्णन देकर राजधर्म–निबन्धकारों में उत्कृष्ट स्थान ग्रहण किए हुए हैं। उन्होंने भी अन्य राजधर्म निबन्धकारों की तरह राजनीति को धर्मशास्त्र के अन्तर्गत ही उल्लिखित किया है, जबकि चण्डेश्वर ने राजनीति का अस्तित्व धर्मशास्त्र से अलग माना है। मयूखाकार ने राजनीति एवं व्यवहार को भास्कर रूप विशालकाय ग्रंथ में एक एक मयूख (किरण) मात्र मानकर वर्णित किया है। इस प्रकार नीलकण्ठ भट्ट ने शासन व्यवस्था का क्रमबद्ध उल्लेख अपने नीतिग्रंथ में किया है। नीलकण्ठ भट्ट द्वारा रचित नीतिमयूख एवं व्यवहार मयूख राजनीति व व्यवहार के अमूल्य ग्रंथ (रत्न) हैं।

नीलकण्ठ भट्ट ने नीतिमयूख में राजधर्म संबंधी सत्रहवीं सदी में प्रचलित शासन पद्धति का

वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है कि नीलकण्ठ भट्ट राजधर्म संबंधी पद्धति के आचार्य एवं कुशल व्याख्याता हैं। परन्तु उनके प्रणेता नहीं है। उनकी महती देन इस विषय में यही है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन राजधर्म संबंधी विविध पद्धतियों में से देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार जिनको लोकोपयोगी समझा उनका चयन किया और फिर उसका स्पष्ट स्वरूप अपने निबन्ध नीतिमयूख द्वारा तत्कालीन जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। उनकी राजनीति के क्षेत्र में यही देन महत्वपूर्ण है।

नीलकण्ठ भट्ट की एक और महती देन यह है कि उन्होंने राजधर्म संबंधी उन्हीं कृत्यों, विधियों एंव पद्धतियों का वर्णन किया है, जो तत्कालीन जनता एवं समाज के अनुकूल एवं उनके लिए सरल, सुगम तथा कल्याणप्रद समझी गई थीं। इसी कारण भारतीय जनता राजशास्त्र के इतिहास में एवं निर्धन राजधर्म निबन्धकारों की श्रेणी में नीलकण्ठ भट्ट राजधर्म संबंधी पद्धतियों का विवरणात्मक एवं सविस्तार चित्रण करने वालों में मूर्धन्य (शिरोमणि) है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के प्रत्येक जिज्ञासु के लिए इनका (नीलकण्ठ भट्ट कृत नीतिमयूख का) अध्ययन करना अत्यावश्यक (अनिवार्य) है।

परिशिष्ट

1. मूल ग्रंथ सूची
   वैदिक संहिता, स्वाध्याय मण्डल, पारडी सूरत (सातवलेकर सं0 1)
2. ऋग्वेद संहिता (सायण भाष्य सहित)
3. ऋग्वेद संहिता (हिन्दी अनुवाद सहित) जयदेश शर्मा विद्यालंकार, अजमेर।
4. यजुर्वेद संहिता शुक्ल मूल (हिन्दी अनुवाद सहित) जयदेव शर्म विद्यालंकार, अजमेर।
5. सामवेद संहिता मूल (हिन्दी अनुवाद सहित) जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर।
6. अथर्ववेद संहिता– सायणाचार्य भाष्य, बम्बई।
7. अथर्ववेद संहिता– हिन्दी

धर्मसूत्र ग्रंथ :

1. आश्वलायन गृह –सूत्र , ट्रिवेन्डरम्, संस्कृत सिरीज, ट्रिवेन्डरम्।
2. बोधायन धर्मसूत्र, रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, चौखम्बा
   संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

धर्मशास्त्र (स्मृति ग्रंथ)

1. मानवधर्मशास्त्र (मनुस्मृति) मन्वर्थमुक्तावली सहित कुल्लूक भट्ट पंडित हरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी मैद्यातिथयादी षट्टीका गणपति कृष्ण जी प्रेस, बम्बई, डॉ0 चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान बरेली, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
2. बृहस्पति स्मृति, के.वी.आर. आयंगर, गायकवाड़, ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा।
3. नारद स्मृति, जाली, कलकत्ता।
4. याज्ञवल्क्य स्मृति (मिताक्षरा एवं बालम्मट्टी टीकाएं) चौखम्बा संस्कृत, सीरीज, वाराणसी।

पुराण ग्रंथ –

1. अग्निपुराण, श्रीराम शर्मा, बरेली, खेमराज श्रीकृष्ण दास बम्बई।
2. मत्स्य पुराण, बेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ।
3. मार्कण्डेय पुराण, श्रीराम शर्मा, बरेली, बैकटेश्वर प्रेस बम्बई।

अर्थशास्त्र –

1. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् (हिन्दी व्याख्या सहित) गेरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी (1962)
2. कौटिलीय अर्थशास्त्र (तीन खण्ड, हिन्दी व्याख्या सहित) उदयवीर शास्त्री, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, नई दिल्ली।
3. कौटिलीय अर्थशास्त्र, आर0 शामशास्त्री मैसूर (1960)

नीतिशास्त्र –

1. कामन्दकीयनीतिसार (कामन्दक नीति), ज्वाला प्रसाद मिश्र, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई,

गणपति शास्त्री, बैकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

2. शुक्रनीतिसार (शुक्रनीति), जीवानन्द सागर विद्यासागर कलकत्ता, प्रथम संस्करण। हिन्दी टीका पंडित मिहिर चन्द्र, बैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई संवत् (2012) पंडित गंगा प्रसाद शास्त्री, हिन्दू जात् कार्यालय, शामली मुज फफर नगर।
3. नीतिवाक्यमृत (सोमदेवसूरि कृत व्या0 आर0 सी0 मालवीय चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी, सन् 1972)

रामायण एवं महाभारत –

1. रामायण (बाल्मीकि), रामनारायण दत्त शास्त्री, गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् (2025)
2. महाभारत , 12 शान्ति पर्व, दो जिल्दों में, सम्पादक, श्री पाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी, जिला सूरत
3. महाभारत, पी0सी0 एस0 शास्त्री, मद्रास
4. श्री मन्महाभारतभ् हिन्दी अनुभाग सहित गंगा प्रसाद शास्त्री, महाभारत प्रकाशक मंडल दिल्ली।
5. महाभारत – भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च, इन्स्टीट्यूट पूना
   आदि पर्व0स0 पी0एस0 सुकथनकर 1927 –1933
   शान्तिपर्व स0एस0के0 वेलबलकर 1949–54

कोश ग्रंथ–

1. अमरकोश (अमर सिंह), सतीश चन्द्र विद्याभूषण, कलकत्ता (1901), खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई।
2. प्रामाणिक हिन्दी कोश, रामचन्द्र वर्मा, बनारस (संवत् 2007)
3. संस्कृत–हिन्दी कोश, वामन शिवराज आम्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–7
4. संस्कृत साहित्य कोश : डॉ0 राजवंश सहाय, 'होरा' चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी (1973)
5. शब्द कल्पद्रुम (राधाकान्त देव), चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी (1961)
6. ए संस्कृत –इंग्लिश डिक्शनरी मोनियर विलियम्स, आक्सफोर्ड (1951)

अन्य ग्रंथ :

1. धर्मशास्त्र संग्रह (भाषा टीका सहित) साधु प्रसाद खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई (1913)
2. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, दयानंद सरस्वती, वैदिक, प्रेस अजमेर।
3. श्रीमद् भागवत गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् (2028)
4. चतुर्वर्गचिंतामणि (हेमाद्रि), चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

सहायक ग्रंथ

1. डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी (1955)

2. डॉ. बी0एम0 शर्मा : प्राचीन व मध्यकालीन राजदर्शन, जी0आर0 भार्गव एण्ड संस चन्दौसी (1953)

3. परिपूर्णानंद वर्मा : प्राचीन भारत की शासन प्रणाली, श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा – 3 (1960)

4. डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार : प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, सरस्वती सदन, मंसूरी (1960)

5. मनोरमा जौहरी : प्राचीन भारत में राज्य और शासन व्यवस्था, गणेश प्रकाशन, वाराणसी, 1972

6. डॉ0 रामजी उपाध्याय : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1, (1966) शोध ग्रंथ।

7. डॉ0 राघवेन्द्र बाजपेयी : ब्राईस्पत्य राज्य –व्यवस्था, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी– 1, (1966) शोध ग्रंथ।

8. डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : मनु का राजधर्म, आर्य नगर लखनऊ।

9. डॉ0 स्नेहलता शर्मा : महाभारत में राज्य सिद्धांत (अप्रकाशित शोध ग्रंथ, रविशंक विश्वविद्यालय, रायपुर, मध्य–प्रदेश।

10. डॉ0 प्रशान्त कुमार वेदालंकार : महर्षि दयानंद द्वारा प्रतिपादित राज्य व्यवस्था, गोविन्द राम हासानन्द, दिल्ली।

11. काका कालेलकर : युगानुकूल हिन्दू जीवन दृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली (1970)

12. डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : वैदिक राजनीतिशास्त्र, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना– 3 (1975)

13. आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति : वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त (तीन काण्ड), मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ।

14. बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा मन्दिर, काशी (1958)

15. डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : शुक्र की राजनीति, प्रेम पब्लिशर्स लखनऊ (1952)

16. एम0 विन्टरनिट्ज : प्राचीन भारतीय साहित्य प्रथम भाग, अनु0 डॉ0 रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल, बनारसी दास, दिल्ली।

17. शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय संस्कृति, बम्बई 1943

18. शकुन्तला रानी तिवारी : महाभारत में धर्म, पाटल प्रकाशन, आगरा (1973)

19. चिन्तामणि विनायक वैद्य : महाभारत मीमांसा

20. देवीदत्त शुक्ल : महाभारत मीमांसा

21. राधाकृष्ण चौधरी : प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था

22. डॉ0 देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतंत्र, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ। (1966)

23. अच्युतानन्द घिडिल्डवाल : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक, विवेक घिड़िल्डयाल बन्धु, सिगरा वाराणसी, (1972)

24. रामशरण शर्मा : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं।
25. हरिहरनाथ त्रिपाठी : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली (1965)
26. वृन्दावनदास : प्राचीन भारत में हिन्दी राज्य साहित्य प्रकाशन, मालीवाड़ा, नयी सड़क दिल्ली (1972)
27. डॉ0 बी0एन0 लूनिया : भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास
28. डॉ0 रघुवीर शास्त्री : महाभारत कालीन राज्य व्यवस्था
29. डॉ0 कामेश्वरनाथ मिश्र : महाभारत में लोक कल्याण की राजकीय योजनाये, भारत मनीषी, वाराणसी (1972)
30. आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री : महाभारत में पंचायती राज्य
31. डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश लखनऊ (1964)
32. प्रेमकुमारी दीक्षित : महाभारत में राज्य व्यवस्था, अर्चना प्रकाशन, लाल बाग, लखनऊ, 1970
33. विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज और संस्कृति
34. प्राणनाथ वानप्रस्थी : सरल महाभारत
35. यदुनन्दन कपूर : धर्मनिरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातांत्रिक परम्पराये लक्ष्मीनारायण प्रकाशन, आगरा।
36. बालकृष्ण पाण्डुरंग : हिन्दी, महाभारत मीमांसा
37. रायबहादुर जी : हिन्दी, महाभारत मीमांसा
38. राधामुकुन्द मुखर्जी : हिन्दू सभ्यता
39. नारायण चन्द्र बन्धोपाध्याय : कौटिल्य
40. अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राजशास्त्र हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (संवत् –1998)
41. डॉ0 फतेह सिंह : वैदिक दर्शन
42. श्याम लाल पाण्डेय : जनतंत्रवाद (रामयण और महाभारत कालीन), अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।
43. राधाकृष्ण पचौरी : प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास।
44. सुखसम्पतराम भण्डारी : भारतीय सभ्यता और उसका विश्व व्यापी प्रभाव
45. गंगानाथ झा : गुप्त इंस्क्रप्शन
46. सूर्यकान्त त्रिपाठी : महाभारत
47. भगवानदास केला : कौटिल्य की शासन पद्धति हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (संवत् 2005)
48. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी (1960)
49. अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दुओं की राज्य कल्पना, नं0 97 मुलाराम बाबू स्ट्रीट, भारत मित्र प्रेस, कलकत्ता (संवत् 1970)
50. डॉ0 राधा कुमुद मुखर्जी : हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी, दिल्ली

51. के0एम0 पानिकर : हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (1965)

52. विनायक दामोदर सावरकर : हिन्दुत्व, राजधारी ग्रंथागार, लाजपतनगर, नई दिल्ली–

53. डॉ0 वेणी प्रसाद : हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, प्रयाग (1931)

54. के0एम0 पानिकर : कूटनीति के सिद्धांत और व्यवहार, एशिया पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली।

55. डॉ0 पाण्डुरंग वामन काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास (पांच भाग) अनु0 अर्जुन चौबे, काशयप, हिन्दी समिति सूचना विभाग लखनऊ (1937)

56. डॉ0 ए0 एस. अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस इलाहाबाद 1970

57. रजेश चन्द्र मजुमदार : प्राचीन भारत अनु0 परमेश्वरी लाल गुप्त, मोतीलाल, बनारसीदास, वाराणसी 1962

58. डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णनन : प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार अनु0 उमापतिरायचन्देल, राजपाल एण्ड संस दिल्ली 1967

59. अरस्तु की राजनीति : पालितकोनव अथेनह्योन पोलितेइया, अनु0 भोलानाथ वर्मा, प्रकाशन व्यूरो उत्तर प्रदेश सरकार लखनऊ 1956

60. डॉ0 ए0वी0 कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास अनु0 डॉ0 मंगलदेव शास्त्री मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। 1960

61. डॉ0 ए0वी0 कीथ : वैदिक धर्म एवं दर्शन, अनु0 सूर्यकान्त, मोतीलाल, बनारसीदास, वाराणसी 1973

62. डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : वेदकालीन राज्य व्यवस्था , हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश लखनऊ। 1971

63. डॉ0 उमाशंकर उपाध्याय : महाभारत के शांतिपर्व में व्यक्त भीष्म के राजनीतिक विचार (अप्रकाशित)

64. डा़0 एम0एल0 शर्मा : नीतिवाक्यमृत में राजनीति, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशनार्थ दिल्ली। सन् 1971

आंग्ल भाषा के ग्रंथ –

1- F. Max Muller - A History of Ancient Sanskrit Literature, panini office, Allahabad (1912).

2- U.N. Ghoshal - A History of Hindu political Theories, Calcutta (1923)

3- N.W. Law - Studies in ancient polity, Longmans greegco. London.

4- Ajit Kumar Sen - Studies in Hindu political Thought. Calcutta (1926)

5- V.P. Verma - Studies in Hindu political Thought and it

a metaghysical Foundation, Motilal Banarsidass, Delhi (1959)

6- K.M. Panikkar - The origin and Evolution of kingship in India, Baroda (1938)

7- J.J. Anjaria - The Nature and grounds of political obligation in the Hindu State, Longmans Greens co. London (1935)

8- John Neville figgis - The Divine right of Kings, Cambridge (1914)

9- V.R.R. Dikshitar - The Gupta polity , Madras (1952)

10- K.M. Panikkar - The Ideas of Sovoreinghty and State in Ancient India, Bombay (1963)

11- Bhagwan Das - The Laws of Manu (or the science of social oiganisation -Bo 1. II). The Theo sophical publishing House. Adyar, Ma dras (1939)

12- Dr. B.A. Saletor - Ancient Indian political Thought and Institutions. Asi a publishing House, New Delhi (1963)

13- Nerendra Nath Law - Aspects of Ancient Indian polity. Oxford (1921)

14- R.S. Sharma - Aspects of political ideas and Institutions in Ancient India, Delhi (1966)

15- G.H. Sabine - A History of political Theory, London (1966)

16- Mdodonell Arthur A - A History of Sanskrit Literature (Second Edition) Delhi (1971)

17- P.V. Kane - Histiory of Dharma Shastra (5 vols) Bhandarkar oriental Research institute. Poona.

18- P.B. Prabhu - Hindu social organisation, Bombay (1958)

19- K.P. Jayasawal - Hindu polity, Banglore (1943)

20- P. Maxmuller - Heritage of India, Calcutta (1951).

21- Ernest Barker - Greek political Theory, plato and his predeces (Second Education) London (1925).

22- Dr. H.S. Altekar - Education in Ancient India, Banaras (1943).

23- H.N. Sinha - Development of Indian polity, Bombay (1963).

24- N.C. Bandyopadhyay - Development of Hindu polity and political Theories, Calcutta, (1927)

25- R.C. Majumdar, Corporate Life in Ancient India, Calcutta (1922)

26- R.K. Mookerji - Chandragupta Maurya and his times. Rajkamal publications, Delhi (1953).

27- B.K. Sarkar, - Politic al institutions of Theories of the Hindus, Calcutta (1939) .

28- Dr. B.P. Roy - Political ideas of Institutions in the Muhabharat, punthi pustak, Calcutta (1975)

29- M.P.A. pparcell - Modern Welfare State, London (1953)

30- U.R.R. Dikshitar - Mauryan polity, Madras (1932)

31- Joseph Frankal - Key Concept in political Science Nationl Interest, Mac Millan, London (1970).

32- R.K. Mookerju - Local Self Government in Ancient India. Motilal Banarasidas, Delhi (1948).

33- Allan H. Gilbert - Machiavelli's Prince and Its runners, North Carolina (1938).

34- Dr. A.S. Altekar - State and Government in Ancient India, Motilal Banarasidass , Delhi 6 (1958)

35- H.N. Sinha - Sovereignty in Ancinet Indian polity, London (1938).

36- K.V.R. Aiyangar - Some Aspects of Hundu view of Life, Baroda (1952).

37- K.V.R. Ajyangar - Some Aspects of Anciont India polity, Madras (1935).

38- Dr. Bhandarkar - Some Aspects of Ancient Hindu polity, Banaras (1929).

39- R.N. Gildhrist - Principles of political Science- Oreent Longmans, Bombay.

40- Dr. Gita Upadhyay - Political Thought in Sanskrit Kavyas. Cahukhmba, Varanasi (1979).

41- नीति मयूख (नीलकंठ भट्ट)

42- व्यवहार मयूख (नीलकंठ भट्ट)